ाचा १)
चार और नीति |||)
का काँटा १||)
रा फूल १||)
ाली २)
म का मूल्य १||)
जित स्पेन १)
बच्चे १)
और स्वास्थ्य पर
ांधी के प्रयोग |||)
र्य पर म० गांधी
ुभव ||)
दिल्ली |||)
सुधार ||=)
गोविन्द
हि |||)
क्ति के चमत्कार |-)
स्वर |-)

२३. बच्चों की सचित्र कहानियाँ, पाँच भाग मू० प्रत्येक का |=)
२४ कालिदास और उनकी कविता १)
२५. सुभाषित और विनोद १||)
२६. भावविलास १||)
२७. साहित्यालंकार १)
२८. साहित्यसुषमा १||)
२९. गोराबादल की कथा |=)
३०. निशीथ |||)
३१. गुजरात की वीराङ्गना |||)
३२. निःश्वास ||=)
३३. एब्राहम लिंकन |||)
३४. रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत १||)
३५. अर्चना-कविता १||)
३६. वेदान्त-रहस्य १|||)

ग्रीस का इतिहास

तरुण-भारत-ग्रंथावली

हमारे बच्चे स्वस्थ और दीर्घजीवी कैसे हों	१।)	आहार शास्त्र	
प्राणायाम रहस्य सचि० सजि०	१।।)	माघ विलास सटीक	
भोजन और स्वास्थ्य पर महात्मा गान्धी के प्रयोग	।।।)	उषःपान	
इच्छाशक्ति के चमत्कार	।=)	ब्रह्मचर्य पर महात्मा गान्धी के अनुभव	
कान के रोग और चिकित्सा	।≈)	हमारा स्वर मधुर कैसे हो ?	
साहित्य सीकर	१।।)	दीर्घायु और दीर्घ जीवियों के अनुभव	
रासपञ्चाध्यायी और भ्रमर गीत	१।।)	कालिदास और उनकी कविता	
साहित्य सुषमा	१।)	गोरा बादल की कथा	
सुभाषित और विनोद	१।।)	निःश्वास	
अर्चना-(काव्य)	२)	काव्य और संगीत	
आरती-(काव्य) सजि०	२)	मराठों का उत्कर्ष सजि०	
फ्रान्स की राज्यक्रान्ति	१।)	रोम का इतिहास	
ग्रीस का इतिहास	१।।)	इटली की स्वाधीनता	१।)
एब्राहम लिंकन	१)	महादेव गोविन्द रानाडे	।।।)
रक्त रंजित स्पेन	१।)	सचित्र दिल्ली अथवा इन्द्रप्रस्थ	।।।)
गार्हस्थ्य शास्त्र	≈)	धर्म शिक्षा	२।।)
सदाचार और नीति	१)	बच्चों की कहानियाँ प्रथमभाग सचित्र	।≈)
बच्चों की कहानियाँ द्वितीय भाग	।≈)	अपना सुधार	।≈)
साम्यवाद के सिद्धान्त	।।)	वेदान्त रहस्य	१।)
सरदारजी	।।।)	हृदय का काँटा	१।।)
बिखरा फूल	१।।)	जीवन मूल्य	१।।)
फूलवाली (ऐतिहासिक उपन्यास)	२।।)	चिपटी खोपड़ी (प्रहसन)	१)
निशीथ— (नाटक)	१)	पाथेयिका—(कहानी संग्रह)	१)
दयालु माता	।≈)	सद्गुणी पुत्री	।≈)
महरू महाराज की प्रवास कथा	।)	मानस प्रतिमा [कहानी संग्रह]	१)

मिलने का पता—

तरुण-भारत-ग्रन्थावली, दारागंज, प्रयाग

तरुण-भारत ग्रन्थावली-संख्या ११

धर्मशिक्षा

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

—महर्षि कणाद।

लेखक—

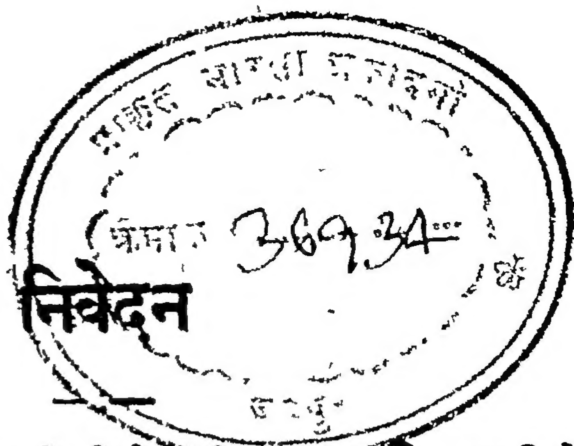
लक्ष्मीधर वाजपेयी

प्रकाशक—

तरुण भारत ग्रंथावली

दारागंज, प्रयाग

नवीं आवृत्ति २०००] जनवरी १९४९ [मूल्य ३) रु०



निवेदन

यह समय हमारे देश के लिये क्रान्ति का युग है। इसलिये जनता की शिक्षा में भी उत्क्रान्ति हो रही है। हमारे देश के विचारशील पुरुष पश्चिमी शिक्षाप्रणाली की त्रुटियों का अब भली भाँति अनुभव करने लगे हैं। इस शिक्षाप्रणाली में सब से बड़ी त्रुटि यही दिखलाई पड़ती है कि विद्यार्थियों को धार्मिक और नैतिक शिक्षा बिलकुल नहीं दी जाती। इसका फल यह होता है कि विद्यार्थियों के भावी जीवन में सदाचार और नीति का विकास कुछ भी नहीं होता। प्रत्येक मनुष्य को उत्तम नागरिक बनने के लिये धर्मनीति की शिक्षा अवश्य मिलनी चाहिये। यह बात अब सर्वमान्य हो गई है।

इसी उद्देश्य को सामने रख कर हिन्दूधर्म के विद्यार्थियों के लिये एक पुस्तक लिखने की बहुत दिन से इच्छा थी। इतने में मेरे मित्र और हिन्दू सभा के उत्साही कार्यकर्त्ता सरदार नर्मदा प्रसादसिंह साहब ने इस कार्य के लिये मुझे विशेष रूप से प्रेरित किया। फलतः यह पुस्तक आज से कोई दो वर्ष पूर्व ही तैयार हो चुकी थी; परन्तु हिन्दीप्रकाशकों की अनुदारता, और मेरे पास स्वयं द्रव्य न होने के कारण यह पुस्तक अब तक अप्रकाशित पड़ी रह" अस्तु।

इस पुस्तक के तैयार करने में मुझे हिन्दूधर्म के अनेक ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है; और प्रत्येक विषय के प्रमाणों का संग्रह करके बड़े परिश्रम से पुस्तक संकलित की गई है। जो कुछ लिखा गया है, उसमें मेरा अपना कुछ भी नहीं है, अपने पूर्वज ऋषियों, मुनियों और कवियों के वचनों का संग्रह करके निबन्धों का ग्रन्थन मात्र कर दिया है। हिन्दू-धर्म बहुत व्यापक है; और इस कारण उसमें मतभेद भी बहुत हैं। इस पुस्तक में सर्वसाधारण धर्म का ही, संक्षेप में, निरूपण किया गया है। जिसको मैंने हिन्दू धर्म समझा है, और जिसमें मतभेद बहुत कम है, उसी का संग्रह किया है। फिर भी धर्मजिज्ञासु सज्जनों से मेरी प्रार्थना है कि इसमें धर्म की सच्ची बात, जो उन्हें दिखलाई दे, उसीको वे ग्रहण करें; और मतभेद की बातों को मेरे लिए छोड़ दें।

विद्वान् सज्जनों से मेरी विनम्र प्रार्थना है कि जो कुछ त्रुटियाँ पुस्तक में दिखाई दें, मुझको अवश्य सूचित करें। उपयोगी सूचनाओं को ग्रहण करके अगले संस्करण में अवश्य संशोधन कर दिया जायगा। मेरी हार्दिक इच्छा है कि पुस्तक आर्य-हिन्दू धर्म के विद्यार्थियों के लिए पूर्ण उपयोगी हो।

दूसरी आवृत्ति

हर्ष की बात है कि "धर्मशिक्षा" की दूसरी आवृत्ति हमको बहुत शीघ्र निकालनी पड़ी। पुस्तक को सर्वसाधारण जनता ने इतना पसन्द किया कि पिछले चार मास के अन्दर ही पहली आवृत्ति की एक हजार प्रतियां निकल गईं ! फिर भी पुस्तक की मांग बहुत अधिक है; और इसीलिये इस बार इसकी तीन हजार प्रतियां निकाली गई हैं।

पुस्तक की प्रशंसा में हमारे पास सैकड़ों विद्वानों के पत्र आये हैं; और हिन्दी के प्रायः सभी समाचारपत्र-सम्पादकों ने इसकी बहुत उत्तम समालोचना की है। कई आर्य हिन्दू जैन संस्थाओं ने अपने विद्यार्थियों के लिए इस पुस्तक को पाठ्य ग्रन्थ के तौर पर नियुक्त किया है। इन सब महानुभावों को हम हृदय से धन्यवाद देते हैं।

हमारे कुछ मित्रों ने पुस्तक के एक-आध अंश पर कुछ मत-भेद भी प्रकट किया था। उनकी सूचनाओं को स्वीकार करके इस बार उक्त मतभेद का अंश ठीक कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त, "पांच महायज्ञ" नामक जो प्रकरण पहली आवृत्ति में छपा था, उसमें यज्ञ विषय पर ही विवेचन था, पञ्च-महायज्ञों पर बहुत कम लिखा गया था। इस बार उस प्रकरण से "यज्ञ" का प्रकरण अलग करके उसको स्वतन्त्र रूप से आचार खण्ड में रख दिया है; और पञ्चमहायज्ञ पर एक नवीन निबन्ध लिख दिया है।

कुछ सज्जनों की सम्मत्ति है कि पुस्तक में संध्या, हवन, संस्कार, इत्यादि की विधियां भी मन्त्रों के सहित देनी चाहिये। परन्तु हमारी सम्मति में विधियां देना इस पुस्तक का उद्देश्य नहीं है; क्योंकि एक तो हिन्दुओं में संध्या इत्यादि की अनेक विधियां प्रचलित हैं, अतएव कोई एक विधि देने से दूसरे का सन्तोष नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, विधियां, यदि देने लगें, तो सोलह संस्कारों की विधियां, पंचमहायज्ञों की विधियां इत्यादि देने से ग्रन्थ बहुत बढ़ जायगा। संध्याविधि, पञ्चमहा-यज्ञ-विधि, संस्कारविधि इत्यादि की अनेक पोथियां स्वतन्त्ररूप से हिन्दी में छप गई हैं; और सहज ही मिल जाती हैं। अतएव इस पुस्तक में उनके देने की आवश्यकता नहीं समझी गई। यह कर्मकाण्ड का विषय है; और अपने अपने आचार्य के द्वारा ही विद्यार्थियों को उक्त विधियों का अभ्यास करना विशेष उपयोगी होगा। अस्तु।

पुस्तक में और कुछ त्रुटि रह गई हो, तो अवश्य सूचित करना चाहिये। अगले संस्करण में उस पर विचार किया जायगा। आशा है, धर्म-शिक्षा के प्रेमी सज्जन उत्तरोत्तर इस पुस्तक का प्रचार करके हमारे उत्साह को बढ़ाते रहेंगे।

लक्ष्मीधर वाजपेयी

———

तीसरी आवृत्ति

आज "धर्मशिक्षा" की यह तीसरी आवृत्ति निकालते हुए मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है। परमात्मा की कृपा से अब हमारे देश के लोग धार्मिक शिक्षा के प्रचार में विशेषरूप से अग्रसर हो रहे हैं। यह हमारे लिए बड़े सौभाग्य की बात है ज्यों ज्यों देश में धर्मशिक्षा का प्रचार होता जायगा, त्यों त्यों हमारे अभ्युदय का समय निकट आता जायगा।

इस पुस्तक को हिन्दी पढ़नेवालों के अतिरिक्त संस्कृत के पाठकों ने भी आदर के साथ अपनाया है; और देश की अनेक संस्कृत पाठशालाओं में उत्तरोत्तर इस पुस्तक का प्रचार बढ़ रहा है। अध्यापकगण और सर्वसाधारण लोग बड़े उत्साह के साथ इस पुस्तक का स्वाध्याय तथा प्रवचन कर रहे हैं। इसी कारण, एक साल के बाद ही, हमको आज यह तीसरी आवृत्ति तीन हजार की फिर निकालनी पड़ी।

अब की बार पुस्तक का वाह्यस्वरूप और भी सुन्दर बना दिया गया है। आशा है, धर्मप्रेमी सज्जन जिज्ञासुगण पुस्तक का उत्तरोत्तर प्रचार करके हमारे उत्साह को वृद्धिङ्गत करते रहेंगे।

दारागंज, प्रयाग
फाल्गुन शुक्ला ५।१९८५

लक्ष्मीधर वाजपेयी

चौथी आवृत्ति

अत्यन्त हर्ष की बात है कि हमारी "धर्मशिक्षा" का प्रचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा है। देश में धर्मजागृति होने का यह बड़ा शुभ चिन्ह है। सी० पी० और यू० पी० के कुछ म्यूनिसिपल और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों ने भी इस पुस्तक को अपने पाठ्यक्रम में स्थान दिया है। इससे मालूम होता है कि देश के शिक्षा प्रेमी अब बालकों को धार्मिक शिक्षा की आवश्यकता का अनुभव करने लगे हैं। "धर्मशिक्षा की चतुर्थ आवृत्ति निकालते हुए हम इसके प्रचारकों को हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

दारागंज, प्रयाग
मार्गशीर्ष कृष्ण १३
सं० १९८८ वि०

लक्ष्मीधर वाजपेयी

पांचवीं आवृत्ति

धर्मशिक्षा के प्रेमियों को यह जानकर हर्ष होगा कि हमारी इस "धर्मशिक्षा" का स्वागत न सिर्फ हिन्दी जनता ने ही किया है; बल्कि गुजरात प्रान्त में भी इस पुस्तक का प्रचार बहुत अच्छा हो रहा है। गुजराती भाई इसको हिन्दी में ही पढ़ना पसन्द करते हैं। अतएव यह पुस्तक गुजरात में हिन्दी-प्रचार के लिये माध्यम का कार्य कर रही है।

कई श्रद्धालु धर्म प्रेमी और देशभक्त धनीमानी सज्जन इस पुस्तक की बहुत सी प्रतियां खरीद कर प्रचारार्थ वितीर्ण करते रहते

है। कुछ सज्जनों को तो पुस्तक इतनी पसन्द आई है कि वे इसको "वाजपेयी-स्मृति" कह कर सदैव अपने पास रखते हैं। मैं समझता हूँ कि इसमें मेरा कोई श्रेय नहीं है। बल्कि जिन ऋषियों, मुनियों और कवियों के आधार पर यह पुस्तक तैयार की गई है, उन्हीं का यह आशीर्वाद है।

दारागंज, प्रयाग
व्यासपूर्णिमा १९९३ वि०

लक्ष्मीधर वाजपेयी

छठवीं आवृत्ति

राजनीतिक संघर्ष के साथ ही इस समय देश में धार्मिक संघर्ष भी बढ़ रहा है। इसलिये स्वाभाविक ही अपने धर्म के विषय में भी तीव्र जिज्ञासा इस समय जनता के हृदय में बढ़ रही है। हिन्दूधर्म के विषय में तो सविशेष जागृति देश में दिखाई दे रही है। लोग धर्म के सच्चे स्वरूप को समझना चाहते हैं।

"धर्मशिक्षा" पुस्तक का प्रचार भी अधिकाधिक इसी कारण बढ़ रहा है। इसमें हिन्दूधर्म को साफ तौर पर रखने की कोशिश की गई है। धर्म का एक क्रियात्मक स्वरूप होता है; जिस पर सहज में अमल किया जा सकता है, और एक स्वरूप ऐसा होता है जो केवल "श्रद्धा", अन्धभक्ति पर अवलम्बित रहता है। धर्म के दोनों स्वरूपों की आवश्यकता सर्वमान्य है; पर आज दिन हमारे देश को पहले धर्म के व्यवहारिक रूप की आवश्यकता है, और यह आवश्यकता कम से कम

आंशिक रूप में तो अवश्य ही इस पुस्तक से पूर्ण होती है। इसी कारण सर्वसाधारण जनता ने इस पुस्तक को विशेष रूप से पसन्द किया है।

इसके कई उदाहरण हमारे सामने हैं। सब से ताजा और प्रभावशाली क्रियात्मक उदाहरण इस समय सामने कलकत्ते के मनसुखराय मोर (फर्म सेठ रामसहायमल मोर) का है। "धर्मशिक्षा" पढ़कर ग्रन्थकार को आपने स्मरण किया। मिलने पर मालूम हुआ कि श्री मनसुखराय मोर पूर्वजन्म के बड़े ही पुण्यात्मा व्यक्ति हैं ; और उसी का यह परिणाम है कि धर्म को क्रियात्मक रूप से धारण करने की ओर आपकी इतनी प्रवृत्ति हुई। फलतः आपने "धर्मशिक्षा" की छठवीं आवृत्ति को १०००० की संख्या में प्रकाशित करके जनता में उसे प्रचारित करने की अभिलाषा प्रकट की। निस्सन्देह "धर्म-शिक्षा" को लाखों व्यक्ति अब तक पढ़ चुके हैं ; पर उस पर अपने जीवन में अमल करके दिव्य आनन्द उठानेवाले पुण्यात्मा व्यक्ति कितने होंगे। अतएव इस पुस्तक के प्रचार के सच्चे अधिकारी श्री मनसुखराय मोर ही हैं। साथ ही भगवान् से मेरी प्रार्थना है कि धर्म की ओर सदैव आपकी ऐसी ही रुचि दिनों-दिन वृद्धिङ्गत होती रहे; जिससे "अभ्युदय" और "निःश्रेयस" आपको इसी जन्म में मिलें, और अन्य भाइयों को आपका अनुकरण करने की सुबुद्धि प्राप्त हो। यही ग्रन्थकार की हार्दिक अभिलाषा है।

भाद्र शुक्ल ८, सं० १९९७ वि०
दारागंज, प्रयाग

लक्ष्मीधर वाजपेयी

सातवीं आवृत्ति

"धर्मशिक्षा" छठवीं आवृत्ति की १०००० दस हजार कापियां श्रीमान् सेठ मनसुखरायजी ने पिछले तीन चार महीने के अन्दर बांट दीं ; और अब पुस्तक की एक भी कापी आपके पास न रही ; क्योंकि जब एक ही कापी आपके पास रही, तब उसको भी आपने दे दिया, और कलकत्ते की जनता में, तथा बाहर भी, इतनी उत्सुकता लोगों में "धर्मशिक्षा" के बारे में बढ़ी कि लोग बराबर मांगने उनके पास आ रहे हैं ; परन्तु जब उनके पास एक भी कापी नहीं हैं, तब फिर वे क्या दें ? फलतः यह सातवीं आवृत्ति १०००० दस हजार की संख्या में भाई मनसुखरायजी फिर छपवा रहे हैं, और धर्मशिक्षा वितीर्ण करने का उत्साह आपके अन्दर वैसा ही कार्य कर रहा है, जैसा पहले था ।

इस बार भाई मनसुखरायजी से मिलकर मुझे विशेष प्रसन्नता इस लिए हुई कि धार्मिक और आध्यात्मिक अभ्यास में आप बराबर अग्रसर हो रहे हैं, और सत्संगति की ओर आपका चित्त विशेष रूप से आकर्षित है । "धर्मशिक्षा" को मैंने प्रयाग में बैठकर लिखा था ; और हजारों की तादाद में छपवाया तथा प्रचारित किया—सर्वसाधारण जनता ने भी इसका बहुत ही आदरपूर्वक स्वागत किया ; पर इसको उस समय वह शोभा प्राप्त न हुई जो कलकत्ते में भाई मनसुखराय जी के हाथ में पड़कर प्राप्त हुई । क्योंकि अब यह हजारों की तादाद

में मुफ्त बांटी जा रही है; और जिस जनता को यह दुर्लभ हो रही थी, वह जनता भी इससे लाभ उठा रही है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने सच ही कहा है :—

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी।
अहि गिरि गज सिर सोह न तैसी॥
नृप किरीट तरुनी तनु पाई।
लहहिं सकल शोभा अधिकाई।
तैसेहिं सुकवि कवित बुध कहहीं।
उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं॥

मणि, माणिक और मुक्ता, के तीनों क्रमशः सर्प पहाड़ और हाथी के सिर में पैदा होते हैं; पर वहां इनको वैसी शोभा नहीं मिलती, जैसी कि राजमुकुट अथवा युवती के शरीर पर। वैसे ही मेरी इस रचना को मेरे घर प्रयाग अथवा कानपुर में उतनी शोभा नहीं मिली, जितनी कलकत्ता में श्रीमान् भाई मनसुखरायजी मोर के घर में मिली।

इसके लिए ग्रन्थकार की हैसियत से मुझे कुछ गर्व और गौरव का अनुभव भले ही हो; पर वास्तव में इसमें मेरा कुछ भी श्रेय नहीं। प्रथम "निवेदन" में ही मैं कह चुका हूँ कि इस ग्रन्थ में 'मेरा अपना कुछ भी नहीं। अपने पूर्वज ऋषियों, मुनियों और कवियों के वचनों का संग्रह करके निबन्धों का मन्थन मात्र कर दिया है।" यही मेरा ग्रन्थकर्तृत्व है। इसी तरह के तीन छोटे-छोटे निबन्ध (जप, कीर्त्तन और दाम्पत्य धर्म) इस आवृत्ति में, भाई मनसुखराय की रुचि पाकर, मैंने अन्त में और बढ़ा दिये हैं। आशा है, ये निबन्ध भी पाठकों के लिए उपदेशप्रद और मनोरंजक होंगे।

यह आवृत्ति बहुत जल्दी जल्दी में छपी है। इसके प्रूफ

मेरे सामने नहीं आ सके। अतएव अशुद्धियां बहुत सी रह गई हैं, जिनका मुझे दुःख है। आगामी आवृत्ति में अच्छी तरह संशोधन किया जायगा।

"धर्मशिक्षा" का प्रचार जनता में उत्तरोत्तर बढ़ता रहे,-यही भगवनान् से प्रार्थना है।

कलकत्ता लक्ष्मीधर वाजपेयी

माघ शुक्ल ७ सं० १९९७ वि०

आठवीं आवृत्ति

धर्म शिक्षा की आठवीं आवृत्ति बड़ी कठिनाई में निकल रही है। युद्ध के कारण कागज और छपाई का दाम इतना बढ़ गया है कि मजबूर होकर पुस्तक का मूल बढ़ाना पड़ा। आशा है, परिस्थितियों पर ध्यान रखकर धर्मशिक्षा के पाठकगण अवश्य क्षमा करेंगे।

सोमदेव वाजपेयी

(प्रकाशक)

नवीं-आवृत्ति

"धर्मशिक्षा" की नवीं आवृत्ति बहुत ही विपरीत समय हमें निकालनी पड़ी है। कागज का अभाव अभी भी वैसा ही है। इस बार हमें मजबूर होकर जरा मैला कागज लगाना पड़ रहा है क्योंकि हमें जो सरकार देगी वही हम इस्तेमाल करेंगे। आशा है कि—"धर्म शिक्षा" के प्रेमी पाठक इस त्रुटि के लिये क्षमा करेंगे और पुस्तक को प्रेम से अपनायेंगे।

प्रकाशक

१-१-४१

अनुक्रमणिका

—:०:—

पहला खंड

(धर्म क्या है)

दूसरा खंड

(वर्णाश्रम-धर्म)

तीसरा खंड

(आचार-धर्म)

चौथा खंड

(दिनचर्या)

पांचवां खंड

(अध्यात्मधर्म)

छठवां खंड

(सूक्ति-संचय)

धर्म-शिक्षा पर कुछ सम्मतियां

"The very fact that in only about four months time since the publication of the first edition of it another had to be brought out testifies to the value and the immense popularity of this book. It contains beautifully well-written short essays—a sort of lay sermons-on a number of subjects of morality and ethics and as such it makes an excellent text-book for students in school It is in fact written with that aim in view and therfore those interested in the full development of the moral, the religious and the patriotic intsincts in the students should find the book particularly suited for the purpose. The subject, the tenor and the style of the book is in marked contrast to those generally found in the text-books at present, prescribed for use in Government or Government-aided-institutions We earnestly commend the publication to the attention of the members of the text-book committees". —सर्चलाइट

"The nature of the book is didectic. It deals with teachings of practical moral life. The author has treated the life of an individual in society in its various aspects. He has taken pains to support his statements with copious extracts from Hindu religious books. The book gives excellent moral teaching to youngmen" —"लीडर"

पहला खण्ड

धर्म क्या है

"दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः"

—मनु० अ० ६—९१

धर्मशिक्षा

—:o:—

धर्म

वैशेषिक शास्त्र के कर्त्ता कणाद मुनि ने धर्म की व्याख्या इस प्रकार की है :—

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ।

अर्थात् जिससे इस लोक और परलोक, दोनों में सुख मिले, वही धर्म है । इससे जान पड़ता है कि जितने भी सत्कर्म हैं जिनसे हमको सुख मिलता है, और दूसरों को भी सुख मिलता है, वे सब धर्म के अन्दर आ जाते हैं ।

हम कैसे पहचानें कि यह मनुष्य धार्मिक है, इसके लिए मनु महाराज ने धर्म के दस लक्षण बतलाये हैं । वे लक्षण इस प्रकार हैं :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

अर्थात् जिस मनुष्य में धैर्य हो क्षमा हो, जो विषयों में फँसा न हो, जो दूसरों की वस्तु को मिट्टी के समान समझता हो, जो भीतर-बाहर से स्वच्छ हो, जो इन्द्रियों को विषयों की ओर से रोकता हो, जो विवेकशील हो, जो विद्वान् हो, जो सत्य-वादी, सत्यमानी और सत्यकारी हो, जो क्रोध न करता हो, वही पुरुष धार्मिक है । ये दस बातें यदि मनुष्य अपने अन्दर

धारण कर ले तो वह न तो स्वयं दुःख पावे, न कोई उसको दुःख दे सके, और न वह किसी को दुःख दे सके।

मनुष्य इस संसार में जो सत्कर्म करता है, जो कुछ वह धर्म-संचय करता है, वही इस लोक में उसके साथ रहता है, और उस लोक में भी वही उसके साथ जाता है। साधारण लोगों में कहावत भी है कि, "यश अपयश रह जायगा; और चला सब जायगा।" यह ठीक है। मनुजी ने भी यही कहा है—

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्ठसमं क्षितौ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति॥

अर्थात् मनुष्य के मरने पर घर के लोग उसके मृत शरीर को काठ अथवा मिट्टी के ढेले की तरह श्मशान में विसर्जन करके विमुख लौट आते हैं, सिर्फ उसका सत्कर्म—धर्म ही उसके साथ जाता है।

प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो लोग धर्म छोड़ देते हैं—अधर्म से कार्य करते हैं, उनकी पहले वृद्धि होती है, परन्तु वही वृद्धि उनके नाश का कारण होती है। मनुजी ने कहा है :—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति॥

अर्थात् मनुष्य अधर्म से पहले बढ़ता है, उसको सुख मालूम होता है (अन्याय से) शत्रुओं को भी जीतता है, परन्तु अन्त में जड़ से नाश हो जाता है। इसलिए धर्म की मनुष्य को पहले रक्षा करनी चाहिए। जो मनुष्य धर्म को मारता है, धर्म भी उसको मार देता है, और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। इसलिए व्यास मुनि ने महाभारत में कहा है कि धर्म को किसी दशा में भी नहीं छोड़ना चाहिए:—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् ।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये ।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः ॥

न तो किसी कामनावश, न किसी प्रकार के भय से और न लोभ से—यहां तक कि जीवन के हेतु से भी—धर्म को नहीं छोड़ना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है और ये सब सांसारिक सुख-दुःख अनित्य हैं। जीव, जिसके साथ धर्म का सम्बन्ध है, वह भी नित्य है; और उसके हेतु जितने हैं वे सब अनित्य हैं। इसलिये किसी भी कारण से धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए।

स्वधर्म के विषय में भगवान् कृष्ण ने गीता में यहां तक कहा है कि :—

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अर्थात् अपना धर्म चाहे उतना अच्छा न हो; और दूसरे का धर्म चाहे बहुत अच्छा भी हो, पर तो भी (दूसरे का धर्म स्वीकार न करे) अपने धर्म में मर जाना अच्छा; पर दूसरे का धर्म भयानक है।

इसलिये अपने धर्म की मनुष्य को यत्न के साथ रक्षा करनी चाहिए। मनुजी ने कहा है कि—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मनो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

अर्थात् धर्म को यदि हम मार देंगे; तो धर्म भी हमको मार देगा। यदि धर्म को हम रक्षा करेंगे, तो धर्म भी हमारी रक्षा करेगा। इसलिये धर्म को मारना नहीं चाहिए। उसकी रक्षा

करनी चाहिए। यदि प्राण देने की आवश्यकता हो, तो प्राण भी दे देवे, परन्तु धर्म बचाने से हटे नहीं। यही मनुष्य का परम कर्तव्य है। वास्तव में मनुष्य और पशु में यही तो भेद है कि मनुष्य को ईश्वर ने धर्म दिया है; और पशुओं को धर्माधर्म का कोई ज्ञान नहीं। अन्य सब बातें पशु और मनुष्य में समान ही हैं। किसी ने ठीक कहा है :—

> आहारनिद्राभयमैथुनं च, सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
> धर्मोहि तेषामधिको विशेषो, धर्मेणहीनाः पशुभिः समानाः ॥

अर्थात् आहार, निद्रा, भय, मैथुन इत्यादि सांसारिक बातें पशु और मनुष्य, दोनों में एक ही समान होती हैं। एक धर्म ही मनुष्य में विशेष होता है; और जिस मनुष्य में धर्म नहीं वह पशु के तुल्य है।

इसलिये मनुष्य को चाहिए कि, इस लोक और परलोक की उन्नति के लिए सदैव अच्छे अच्छे गुणों को धारण करे। कई लोग कहा करते हैं कि, अभी तो हमारा बहुत सा जीवन बाकी पड़ा है। जब तक बच्चे हैं खेलें-कूदें, जवानी में खूब आनन्द भोग करें; फिर जब बूढ़े होंगे, धर्म को देख लेंगे। यह भावना बहुत ही भूल की है। क्योंकि जीवन का कोई ठिकाना नहीं है। न जाने मृत्यु कब आ जावे। फिर यौवन, धन, सम्पत्ति का भी यही हाल है। ये सदैव रहने वाली चीजें नहीं हैं। धर्म तो मनुष्य का जीवन भर का साथी है, और मरने के बाद भी वह साथ देता है। इसलिए बाल अवस्था से ही धर्म का अभ्यास करना चाहिए। धर्म के लिए कोई समय निश्चित नहीं है कि, अमुक अवस्था में ही मनुष्य धर्म करे। व्यास जी ने महाभारत में कहा है :—

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो ।
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते ॥
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना ।
सदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्तते ॥

अर्थात् मनुष्य के धर्माचरण का कोई समय निश्चित नहीं है और न मृत्यु ही उसकी प्रतीक्षा करेगी। मृत्यु ऐसा नहीं सोचेगी कि, कुछ दिन और ठहर जाओ, जब यह मनुष्य कुछ धर्म कर ले, तब इसका ग्रास करो। इस लिए जब कि मनुष्य, एक प्रकार से सदैव ही मृत्यु के मुख में रहता है, तब मनुष्य के लिए यही शोभा देता है कि, वह सदैव धर्म का आचरण करता रहे।

१—धृति

धृति या धैर्य धर्म का पहला लक्षण है। किसी कार्य को साहस-पूर्वक प्रारम्भ कर देना और फिर उसमें चाहे जितनी आपत्तियाँ आवें, उसको निर्वाह करके पार लगाना धृति या धैर्य कहलाता है। भगवान् कृष्ण ने गीता में तीन प्रकार की धृति बतलाते हुए उसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः ।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

भगवद्गीता अ० १८

हे पार्थ, योग से अटल रहनेवाली जिस धृति से मन, प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को मनुष्य धारण करता है, वह धृति सात्विकी है।

धृति या धैर्य जिस मनुष्य में नहीं है वह मनुष्य कोई भी कार्य संसार में नहीं कर सकता। उसका मन सदा डावांडोल रहता है। किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उसे साहस ही नहीं होता। राजर्षि भर्तृहरि महाराज ने कहा है :—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः।
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः॥
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः।
प्रारभ्य चोत्तमजनाः न परित्यजन्ति॥

अर्थात् जिनमें धैर्य नहीं है, वे विघ्नों के भय से पहले ही घबड़ा जाते हैं, और किसी कार्य के प्रारम्भ करने का उनको साहस ही नहीं होता। ऐसे पुरुष नीचे दर्जे के हैं। और जो उनसे कुछ अच्छे, मध्यम दर्जे के हैं, वे कार्य प्रारम्भ तो कर देते हैं, पर बीच में विघ्न आजाने से अधूरा ही छोड़ देते हैं। इन्हीं को कहते हैं—प्रारम्भशूर। अब जो सब से उत्तम धैर्यशाली पुरुष हैं, वे विघ्नों के वार वार आने पर भी, कार्य को अन्त तक पहुँचा देते हैं। बीच में अधूरा नहीं छोड़ते। बल्कि बीच में जो संकट और बाधाएँ आती हैं उनसे धैर्यशाली पुरुष का उत्साह तथा तेज और भी अधिक बढ़ जाता है।

ऐसे धैर्यशाली पुरुषों को धर्म का बल होता है. वे सांसारिक निन्दा-स्तुति, हर्ष-शोक इत्यादि की परवा नहीं करते। जो कार्य उनको न्याय और धर्म का मालूम होता है, उसमें उनके सामने कितने ही संकट आवें, उनकी वे परवा नहीं करते। और अपने न्याय के मार्ग पर बराबर डटे रहते हैं। भर्तृहरि जी पुनः कहते हैं:—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु ।
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ॥
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीतिनिपुण लोग चाहे उनकी निन्दा करें; और चाहे प्रशंसा करें, लक्ष्मी चाहे आवे; और चाहे चली जाय, आज मृत्यु हो, चाहे प्रलयकाल में हो, जो धीर पुरुष हैं, वे न्याय के पथ से विचलित नहीं होते।

मरना-जीना तो ऐसे आदमियों के लिए खेल होता है। वे समझते हैं कि हमारी आत्मा तो अमर है—एक चोला छोड़ कर दूसरे चोले में चले जायेंगे। कृष्ण भगवान् कहते हैं :—

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा ।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥
यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥

भगवद्गीता

धैर्यशाली पुरुष, समझते हैं कि जैसे प्राणी की इस देह में बालपन, जवानी और बुढ़ापा की अवस्था होती है, इसी प्रकार इस चोले को छोड़कर दूसरे चोले का धारण करना भी प्राण की एक अवस्था-विशेष है। और ऐसा समझ कर वे मोह में नहीं पड़ते। हे पुरुषश्रेष्ठ अर्जुन, जो धैर्यशाली पुरुष सुख-दुःख को समान समझता है वही अमर होने का अधिकारी है।

महाभारत शान्तिपर्व में व्यासजी ने इस प्रकार के धैर्यशाली पुरुष को हिमालय पर्वत की उपमा दी है :—

न पंडितः क्रुध्यति नाभिमद्यते न चापि संसीदति न प्रहृष्यति ।
न चापि कृच्छ्रव्यसनेषु शोचते स्थितः प्रकृत्या हिमवानिवाचलः ॥

अर्थात् ऐसा धैर्यशाली पंडित पुरुष न तो क्रोध करता है, और न इन्द्रियों के विषयों में फँसता है, न दुःखी होता है; और न हर्ष में फूलता है, चाहे जितने भारी संकट उस पर आ पड़ें, पर वह घबड़ा कर कर्त्तव्य से नहीं डिगता—हिमालय की तरह अचल रहता है। पुनश्च—

समर्थसिद्धिः परमा न हर्षयेत्तथैव काले व्यसनं न मोहयेत् ।
सुखं च दुःखं च तथैव मध्यमं निषेवते यः स धुरन्धरो नरः ॥
महाभारत शान्तिपर्व ।

चाहे जितना धन उसको मिल जावे, वह हर्ष नहीं मानता और, चाहे जितना कष्ट उस पर आजावे, वह घबड़ाता नहीं—ऐसा धुरन्धर मनुष्य सुख-दुःख दोनों में अपने को समरस रखता है। जैसे समुद्र अपनी मर्यादा को धारण करता है, उसी प्रकार धीर पुरुष सदैव धीर-गम्भीर रहकर अपनी मर्यादा को नहीं छोड़ता।

जिस पुरुष में धैर्य होता है, वह ईश्वर को छोड़कर किसी से डरता नहीं। निर्भयता धैर्यशाली पुरुष का मुख्य लक्षण है। ऐसा मनुष्य, धर्म की संस्थापना के लिए दुष्टों के बल को नष्ट करने में अपनी सारी शक्ति लगा देता है, और सज्जनों के बल को बढ़ाता है। किसी बात की परवा न करते हुए अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहता है। एक कवि ने कहा है :—

अर्थः सुखं कीर्तिरपीह मा भूदनर्थ एवास्तु तथापि धीराः ।
निजप्रतिज्ञामधिरुह्यमाना महोद्यमाः कर्मसमारभन्ते ॥

अर्थात् धन, सुख, यश इत्यादि चाहे कुछ भी न हो, और चाहे

जितनी हानि हो; परन्तु धैर्यशाली पुरुष अपनी प्रतिज्ञा पर आरूढ़ रहते हुए, सदा उत्साहपूर्वक महान् उद्योग में लगे रहते हैं।

इसलिए धैर्य को धारण करना मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है। चाहे जितना भारी संकट आवे, धैर्य नहीं छोड़ना चाहिये। किसी कवि ने ठीक कहा है:—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि काले धैर्यात्कदाचिद्गतिमाप्नुयात्सः।
यथा समुद्रेऽपि च पोतभंगे सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव॥

अर्थात् चाहे जितना संकटकाल आवे, धैर्य न छोड़ना चाहिये क्योंकि शायद धैर्य धारण करने से कोई रास्ता निकल आवे। देखो, समुद्र में जब जहाज डूब जाता है, तब भी उसके यात्री गण पार जाने की इच्छा रखते हैं, और धैर्य के कारण बहुत से लोगों को ऐसे ऐसे साधन मिल जाते हैं कि जिनसे उनका जीवन बच जाता है।

अतएव जो मनुष्य धैर्यशाली है, उसको धन्य है। ऐसे मनुष्य बहुत थोड़े होते हैं, और ऐसे ही लोगों से इस संसार की स्थिति है। किसी कवि ने ऐसे धीर पुरुषों की प्रशंसा करते हुए कहा है:—

सम्पदि यस्य न हर्षो विपदि विषादो रणे च भीरुत्वम्।
तं भुवनत्रयतिलकं जनयति जननी सुतं विरलम्॥

जिनको सम्पदा में हर्ष नहीं; और विपदा में विषाद नहीं तथा रण में निर्भय होकर शत्रु का नाश करते हैं, कभी पीठ नहीं दिखाते, ऐसे धीर पुरुष, तीनों लोकों के तिलक हैं। माता ऐसे सुत विरले पैदा करती है। सब को ऐसे ही श्रेष्ठ पुरुष बनने का प्रयत्न करना चाहिए।

२—क्षमा

मनुष्य को भीतर-बाहर से कोई दुःख उत्पन्न हो, चाहे किसी दूसरे मनुष्य के द्वारा वह दुःख उसे दिया गया हो; और चाहे उसके कर्मों के द्वारा ही उसे मिला हो; पर उस दुःख को सहन कर जाय। उसके कारण क्रोध न करे; और न किसी को हानि पहुँचावे। इसी का नाम क्षमा है। दया, सहनशीलता, अक्रोध, नम्रता, अहिंसा, शान्ति इत्यादि सद्‌गुण क्षमा के साथी हैं। क्योंकि जिसमें क्षमा करने की शक्ति होगी, उसी में ये सब बातें भी हो सकती हैं।

क्षमा का सब से अच्छा उदाहरण धरती माता है। धरती का दूसरा नाम ही क्षमा है। धरती पर लोग मल-मूत्र करते हैं, थूकते हैं, उसको हल, फावड़ा कुदाल इत्यादि से काटते-मारते हैं, सब प्रकार के अत्याचार प्राणी पृथ्वी पर करते हैं; परन्तु पृथ्वीमाता सब का सहन करती है। सहन ही नहीं करती, बल्कि उलटे सबका उपकार करती है। सब को अपनी छाती पर धारण किये हुए है। नाना प्रकार के अन्न, फल-फूल, वनस्पति देकर सब प्राणिमात्र का पालन-पोषण करती है, इसीलिए उसका नाम क्षमा है।

क्षमा का गुण सब मनुष्यों में अवश्य होना चाहिए। संसार में ऐसा भी कोई मनुष्य है, जिसने कभी किसी का अपराध न किया हो? यदि ऐसा कोई मनुष्य हो, तो वह भले ही किसी का अपराध सहन न करे; परन्तु वास्तव में ऐसा कौन मनुष्य है? हमें तो संसार में ऐसा एक भी मनुष्य दिखाई नहीं देता कि जिसने जान-बूझ कर, अथवा भूल से

कभी किसी का अपराध न किया हो। ऐसी दशा में क्षमा धारण करना प्रत्येक मनुष्य का परम कर्त्तव्य है।

मनुष्य में यदि क्षमा न होगी, तो संसार अशान्तिमय हो जायगा। एक के अपराध पर दूसरा क्रोध करेगा, और फिर दूसरा भी उसके बदले में क्रोध करेगा। आपस में लड़े-मरें और कटेंगे। ससार में दुःख का ही राज्य हो जायगा। सब एक दूसरे के शत्रु हो जायँगे। मित्रता के भाव का ससार से लोप हो जायगा। इसलिए मैत्री-भाव बढ़ाने के लिए क्षमा की बड़ी आवश्यकता है। क्षमा से बड़े-बड़े शत्रु भी मित्र बन जाते हैं। नीति कहती है:—

क्षमाशस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेव प्रशाम्यति॥

अर्थात् क्षमा का हथियार जिसके हाथ में है, दुष्ट मनुष्य उसका क्या कर सकता है? वह तो आप ही आप शान्त हो जायगा—जैसे घासफूस से रहित पृथ्वी पर गिरी हुई आग आपही आप शान्त हो जाती है।

बहुत बार ऐसा भी देखा गया है कि साधुओं की क्षमा के प्रभाव से दुर्जन लोग, जो पहले उनके शत्रु थे, मित्र बन गये हैं। क्योंकि चाहे दुर्जन ही क्यो न हो, कुछ न कुछ मनुष्यता उसमें रहती है; और क्षमा करने पर फिर वह अपने अपराध पर पछताता है और लज्जित होकर कभी कभी फिर स्वयं क्षमा मांग कर मित्र बन जाता है। इसलिए मृदुता या क्षमा से सब काम सधते हैं। एक कवि ने कहा है:—

मृदुना दारुणं हन्ति मृदुनाहन्त्यदारुणम्।
नासाध्यं मृदुना किंचित्तस्मात्तीव्रतरं मृदु॥

अर्थात् कोमलता, कठोरता को मार देती है; और कोमलता को तो मारती ही है। ऐसा कोई काम नहीं, जो कोमलता से सध न सके। इसलिए कोमलता ही बड़ी भारी कठोरता है। साधु लोग अक्रोध, अर्थात् क्षमा से ही क्रोध को जीतते हैं, और अपनी साधुता से दुर्जनों को जीत लेते हैं।

परन्तु नीति और धर्म यह भी कहता है कि, सब समय में क्षमा का अच्छी नहीं होती। विशेष कर क्षत्रियों के लिए तो क्षमा भी व्यवहार बहुत सोच-समझकर करना चाहिये। वास्तव में भीतर से कृपा रखकर—शत्रु के भी हित की कामना करके यदि बाहर से क्रोध दिखालाया जाय, तो उसका नाम क्रोध नहीं होता। वह तेजस्विता है और तेजस्विता भी मनुष्य का भूषण है। जिसमें तेज नहीं, वह नपुंसक या कायर है। कायरता की क्षमा कोई क्षमा नहीं। शरीर में बल हो तो क्षमा भी शोभा देती है अतएव व्यास जी ने महाभारत में कहा है कि—

काले मृदुर्यो भवति काले भवति दारुणः।
स वै सुखमवाप्नोति लोकेऽस्मिन्परत्र च ॥

अर्थात् समय समय के अनुसार जो मनुष्य मृदु और कठोर होता है—यानी मौका देखकर तेज भी दिखलाता है और क्षमा के मौके पर क्षमा भी करता है, वही मनुष्य लोक और परलोक में सुख पाता है। बल रहते हुए प्रबल और दुष्ट शत्रु को कभी क्षमा न करना चाहिये। यह पुरुषार्थ नहीं है। व्यासजी ने क्षत्रियों का धर्म बतलाते हुए महाभारत में कहा है कि:—

स्ववीर्यं समाश्रित्य यः समाह्वयति वै परान्।
अभीतो युध्यते शत्रून् स वै पुरुष उच्यते ॥

अर्थात् स्वयं अपने बल पर जो शत्रु को ललकारता है; और निर्भय होकर उससे युद्ध करता है, वही वीर पुरुष है, और जो दूसरों का आश्रय ढूंढ़ता है, अथवा दुम दबाकर भागता है, वह कायर है।

सारांश यह है कि क्षमा मनुष्य का परम धर्म अवश्य है, परन्तु सदैव क्षमा भी अच्छी नहीं होती; और न सदैव तेज ही अच्छा होता है। मौका देखकर, जब जैसा उचित हो, तब वैसा व्यवहार करना चाहिये। मान लीजिये, कोई हमारा उपकारी है, और सदैव हमारा उपकार करता रहता है। अब, ऐसे मनुष्य से यदि कभी कोई छोटा-मोटा अपराध भी हो जाय, तो क्षमा करना उचित है। माता, पिता, गुरु राजा इत्यादि बड़े लोगों में यदि क्षमा न हो, तो वे अपना कर्तव्य उचित रीति से नहीं बजा सकते।

छोटी-मोटी बातों पर क्रोध करके हमको अपने चित्त की शान्ति को भंग नहीं कर लेना चाहिये। विवेक से काम लेना चाहिये। थोड़ी देर विचार करने पर हमको स्वयं शांति मिलेगी, और हमारा अपराधी भी कुछ विचार करेगा। बहुत सम्भव है कि उसकी बुद्धि ठीक हो जाय; और पश्चात्ताप से वह सुधर जाय।

मनुष्य के ऊपर बहुत से ऐसे मौके आते हैं कि, जब उसकी क्षमा और सहनशीलता की परीक्षा होती है। कभी आस-पास के मनुष्य ही कोई मूर्खता का काम कर बैठते हैं, कभी मित्र लोग ही रूठ जाते, कभी नौकर-चाकर लोग ही आज्ञा भंग करते हैं, कभी कोई हमारा अपमान ही कर देता है, कभी हमारे बड़े लोग ही हमको कष्ट देते हैं, कभी दुष्ट लोग निन्दा करते

हैं—अब, ऐसी दशा में, यदि हम बात-बात पर क्रोध करने लगें, और क्षमा, शान्ति और सहन-शीलता से काम न लें तो क्रोध से हमारी ही हानि विशेष होगी। "रिस तन जरै होय बलहानी।" इसलिए ऐसे मौकों पर क्षमा सदैव उपयोगी है। इसीलिए, ऋषि-मुनियों ने क्षमा की प्रशंसा की है:—

क्षमा बलमशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा।
क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किन्न साध्यते॥

अर्थात् क्षमा कमजोर के लिए तो बल है और बलवान् को शोभादायक है। क्षमा से लोगों को वश में कर सकते हैं। क्षमा से क्या नहीं सिद्ध हो सकता?

क्षमा धर्म का एक बड़ा अंग है और उसका धारण करना हम सबका कर्तव्य है।

३—दम

मन को इन्द्रियों के वश में न होने देने का नाम दम है। मनुष्य के अन्दर मन इन्द्रियों का राजा है। जिस तरफ मन इन्द्रियों को चलाता है, उसी तरफ इन्द्रियां अपने विषयों में दौड़ती हैं। इस लिए जब तक मन का बुद्धि के द्वारा दमन नहीं किया जाय; तब तक इन्द्रियों का निग्रह नहीं हो सकता। इन्द्रियों के वश में यदि मन हो जाता है तो इन्द्रियाँ इसको विषयों में फँसाकर मनुष्य का सत्यानाश कर देती हैं। कृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं—

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ॥

गीता, अ० २

इन्द्रियां विषयों की ओर दौड़ती रहती हैं। ऐसी दशा में यदि मन भी इन्द्रियों के पीछे दौड़ता है, तो वह मनुष्य की बुद्धि को इस प्रकार नाश कर देता है, जैसे हवा नौका को पानी के अन्दर डुबा देती है। इसलिए जब कभी मन बुरी तरह से विषयों की ओर दौड़े—अपनी स्वाभाविक चंचलता को प्रकट करे, तभी उसको बुद्धि और विवेक से खींचकर उसकी जगह पर ही उसको रोक देवे। कृष्ण जी कहते हैं :—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥

गीता, अ० ६

अर्थात् यह चंचल और अस्थिर मन जिधर जिधर को भागे, उधर ही उधर से इसको खींच लावे; और इसको अपने वश में रखे। मन की गति किधर को होती है? या तो यह विषयों के सुख की ओर दौड़ेगा, अथवा किसी के प्रेम और मोह में दौड़ेगा, अथवा किसी की निन्दा-स्तुति, द्वेष या किसी को हानि पहुँचाने की ओर दौड़ेगा। जो शुद्ध मन होगा, वह ईश्वर की ओर दौड़ेगा, उसी में एकाग्र होगा। अथवा दूसरे का उपकार सोचेगा। इस प्रकार मनुष्य का मन अपनी वेगवान् गति से सदैव दौड़ा ही करता है। इसको यदि एक जगह लाकर ईश्वर में लगा देवे, तो उसी का नाम योगाभ्यास है। परन्तु मन का रोकना बहुत कठिन है। इस विषय में परम भगवद्भक्त वीरवर अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कहा था :—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

गीता, अ० ६

हे कृष्ण, यह मन बड़ा चञ्चल है। इन्द्रियों को विषयों की ओर से खींचता नहीं है, बल्कि ओर ढकेलता है। चाहे जितना विवेक से काम लो, फिर भी इसको जीतना कठिन है। विषय वासनाओं मे बड़ा दृढ़ है। इसका निग्रह करना तो ऐसा कठिन है कि जैसे हवा की गठरी बांधना। इस पर भगवान् कृष्ण ने कहा :—

असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

गीता, अ० ६

हे वीरवर अर्जुन इसमें सन्देह नहीं; यह मन अत्यन्त चञ्चल है; और इसका रोकना बहुत कठिन है, फिर भी दो उपाय ऐसे हैं, कि जिनसे यह वश में किया जा सकता है, और वे उपाय हैं—अभ्यास और वैराग। अभ्यास—अर्थात् बार बार और बराबर मन की हरकतों पर यदि हम ध्यान रखें, और उसको अपने वश मे लाने का प्रयत्न जारी रखें, तो ऐसा नहीं कि वह वश में न हो जावे; और वैराग्य—अर्थात् संसार के जितने विषय हैं, उनका उचित रूप से, धर्म से सेवन करें- सेवन करें और फँसें नहीं। इनके पीछे पागल न हो जावें—अपनी आत्मा और संसार को हानि न पहुँचावें। बल्कि अपनी आत्मा और संसार के कल्याण का ध्यान रखते हुए—इन्द्रियों और मन को वश में रखते हुए—यदि हम संसार के कर्तव्यों का पालन करें; और धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करें, तो यह भी वैराग्य ही है। इस प्रकार की चित्तवृत्ति का अभ्यास करने से मन वश में हो

जाता है; और प्रसन्नता प्राप्त होती है। यही बात कृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं :—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

गीता, २—६४

जो विषयों से प्रेम और द्वेष छोड़ देता है—अर्थात् उनमें फँसता नहीं है, धर्मपूर्वक विषयों का सेवन करता है—जिसका मन वश में है, इन्द्रियां वश में हैं वह प्रसन्नता प्राप्त करता है। उसको विषयों का सुख दुःख नहीं मालूम होता। मन परमात्मा और धर्म में लीन रहता है। ऐसे पुरुष को कभी क्लेश नहीं होता। क्लेश में भी वह अपने मन का दमन करके सुख ही मानता है। न उसको अपने ऊपर द्वेष या क्रोध होता है; और न दूसरे के ऊपर।

दान्तः शमपरः शश्वत् परिक्लेशं न विन्दति।
न चतप्यति दान्तात्मा दृष्ट्वा परगतां श्रियम्॥

महाभारत, वनपर्व।

जो सदैव मन और इन्द्रियों को वश में रख कर शान्त और दान्त रहता है, वह दुःख का अनुभव नहीं करता। जिसने अपने मन का दमन कर लिया है, वह दूसरे के सुख को देख कर कभी जलता नहीं। सुखी होता है।

कई लोगों का मत है, कि मन को दबाना कभी नहीं चाहिए। किन्तु मन जो माँगता जावे, वही उसको देते रहना चाहिए। इस प्रकार जब मन खूब विषय-उपभोग करके तृप्त हो जायगा, तब आप ही आप उसका दमन हो जायगा। परन्तु भगवान् मनु कहते हैं कि :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाऽभिवर्धते ॥

मनुस्मृति, अ० २

विषयों के भोग की इच्छा विषयों के भोग से कभी शान्त नहीं हो सकती; किन्तु और भी बढ़ती ही जाती है—जैसे आग में घी डालने से आग और बढ़ती है। इस लिए विवेक से मन का दमन करने से इन्द्रियां आप आप ही आप विषयों से खिच आती हैं। जैसे कछुआ अपने सब अंगों को अन्दर सिकोड़ लेता है, वैसे ही इन्द्रियां अपने को विषयों से समेट करके मन के साथ आत्मा में भीतर संलग्न हो जाती हैं। जब मनुष्य की ऐसी दशा हो जाती है तब विषयों से विरक्त मन को आत्मा में स्थिर करके वह मोक्ष प्राप्त करता है। इसी लिए कहते हैं कि :—

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासक्तं मुक्तो निर्विषयं मनः ॥

मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है; क्योंकि विषयों में फँसा हुआ मन बन्धन में है; और विषयों से छुटा हुआ मुक्त है। ज्ञानी लोग विषयों से मन को छुड़ाकर इसी जन्म में मुक्ति का अनुभव करते हैं।

सारांश यह है कि, मन की वासना, जो सदैव बुरे और भले मार्गों की ओर दौड़ा करती है; उसको बुरे मार्गों की ओर से हटाकर सदैव कल्याण-मार्ग की ओर लगाते रहना चाहिए। यही मन का दमन है। महाभारत में इसका फल इस प्रकार कहा है :—

दमस्तेजो वर्धयति पवित्रं दममुत्तमम् ।
विपाप्मा वृद्धतेजास्तु पुरुषो विन्दते महत् ॥

महाभारत

मन का द[illegible]ने से तेज बढ़ता है। यह मनोदमन का गुण मनुष्य में परम पवित्र और उत्तम है। इससे पाप नष्ट होता है, और मनुष्य तेजस्वी होकर परमात्मा को प्राप्त करता है।

४—अस्तेय

दूसरे की वस्तु अपहरण न करके, धर्म के साथ अपनी जीविका करने को अस्तेय कहते हैं। मनु महाराज ने धर्मपूर्वक धन कमाने के निम्नलिखित दस साधन वतलाये हैं :—

विद्या शिल्प भृतिः सेवा गोरक्ष्यं विपणिः कृषिः ।
धृतिर्भैक्ष्यं कुसीदं च दश जीवनहेतवः ॥

अर्थात् १—अध्ययन-अध्यापन का कार्य करना, २—शिल्प-विज्ञान-कारीगरी, ३—किसी के घर नौकरी करना, ४—किसी संस्था की सेवा करना, ५—गोरक्षा-पशुपालन, ६—देशविदेश घूमकर अथवा एक स्थान में दूकान रखकर व्यापार करना, ७—कृषि करना, ८—सन्तोष धारण करके जो मिल जाय, उसी पर गुज़ारा करना, ९—भिक्षा माँगना, १०—व्याज-साहूकारी इत्यादि, ये दस बातें जीविका की हेतु हैं।

अपने अपने वर्ण-धर्म के अनुसार इन्हीं व्यवसायों में से कोई व्यवसाय मनुष्य को चुन लेना चाहिये। व्यवसाय कोई भी हो, ईमानदारी और सचाई के साथ करना चाहिए। दूसरे का धन वेईमानी या चोरी से हरण करने का प्रयत्न न करना चाहिए।

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥ ईशोपनिषद्

अर्थात् यह सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् परमात्मा से व्याप्त है—ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें वह न हो, इसलिए उससे डरो। ईमानदारी के साथ, सच्चाई से जितना मिले, उसी का भोग करो। किसी का धन अन्याय से लेने का लालच मत करो। महर्षि व्यास जी ने कहा :—

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद्धनकांक्षया॥

महाभारत, शान्तिपर्व

अर्थात् जो धन धर्म से पैदा किया जाता है, वही सच्चा धन है, अधर्म से पैदा किये हुए धन को धिक्कार है। धन सदैव रहने की चीज़ नहीं है; और धर्म सदैव रहता है। इस लिए धन के लिए धर्म कभी न छोड़ो।

धर्म की अवहेलना करके जो लोग चोरी, घूंस अथवा व्यापार इत्यादि से मिथ्याचार या धूर्तता का व्यवहार करके धन जोड़ते हैं उनको उस धन से सुख कदापि नहीं मिलता। अन्याय से बहुत-सा जोड़ा हुआ उनका धन दुर्व्यसनों में खर्च होता है, इससे उनका शरीर मिट्टी हो जाता है; और ऐसे नीच धनवान् लोक परलोक दोनों बिगाड़ते हैं। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने गीता में ऐसे अधर्मी का अच्छा वर्णन किया है :—

आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनाऽर्थसंचयान्॥
अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥

गीता, अ० १६

अर्थात् सैकड़ों आशाओं की फाँसियों में बँधे हुए, कामक्रोध में तत्पर, विषय-सुख के लिए अन्याय से धन संचय करने की चेष्टा करते हैं। चित चंचल होने के कारण भ्रांति में पड़े रहते हैं। मोहजाल में लिपटे रहते हैं। काम-भोगो में फँसे रहते हैं। ऐसे दुष्ट बड़े बुरे नरक में पड़ते हैं।

इसके सिवाय जो धन अधर्म से इकट्ठा किया जाता है, वह बहुत समय तक ठहरता भी नहीं —जैसा आता है वैसा ही चला जाता है। चाणक्य मुनि ने कहा है कि—

अन्यायोपार्जितं द्रव्यं दशवर्षाणि तिष्ठति ।
प्राप्ते चैकादशे वर्षे समूलं च विनश्यति ॥

चाणक्यनीति

अर्थात् अधर्म और अन्याय से जो द्रव्य उपार्जन किया जाता है, वह सिर्फ दस वर्ष ठहरता है और ग्यारहवें वर्ष जड़मूल से नाश हो जाता है। चाहे चोरी हो जाय, चाहे आग लग जाय, चाहे स्वयं वह अधर्मी नाना प्रकार के दुराचारों में ही उसको खर्च कर दे, पर वह रहता नहीं; और न ऐसे धन से उसको सुख ही होता है। इसलिए अपने बाहुबल से धर्म के साथ उद्योग करते हुए जीविका के लिए धन कमाना चाहिए। उद्योगी पुरुष के लिए धन की कमी नहीं। राजर्षि भर्तृहरि कहते हैं :—

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी ।
दैवं प्रधानमिति कापुरुषा वदन्ति ॥
दैवं विहाय कुरु पौरुषमात्मशक्त्या ।
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः ॥

अर्थात् जो पुरुष उद्योगी है, अपने बाहुबल का भरोसा करके सतत परिश्रम करते रहते हैं; उन्हीं के गले में लक्ष्मी जयमाल

पहनाती है; और जो लोग कायर आलसी हैं वे भाग्य का भरोसा किये बैठे रहते हैं। इस लिये भाग्य का भरोसा छोड़ कर शक्तिभर खूब पौरुष करो। यत्न करो। यत्न करने पर यदि सफलता प्राप्त न हो, तो फिर यत्न करो। देखो कि, हमारे यत्न में कहाँ दोष रह गया है। उस दोष को खोज निकाल कर जब निर्दोष यत्न करोगे; तब सफलता अवश्य मिलेगी। नीचे लिखे हुए गुण जिस उद्योगी मनुष्य में होते हैं, उसके पास धन की कमी नहीं रहती:

उत्साहसम्पन्नमदीर्घसूत्रं।
क्रियाविधिज्ञं व्यसनेष्वसक्तम् ॥
शूरं कृतज्ञं दृढसौहृदं च।
लक्ष्मीः स्वयं याति निवासहेतोः ॥

जिस पुरुष में उत्साह भरा हुआ है, जो आगे की बात ताड़ कर बराबर दक्षता से उद्योग करता रहता है, कार्य करने की चतुरता जिसमें है, जो व्यसनो में नहीं फँसा है, जो शूरवीर और आरोग्य-शरीर है, जो किये हुए उपकार को मानता है, जिसका हृदय दृढ़ है; और दूसरे के साथ सहृदयता का वर्त्ताव करता है, ऐसे पुरुष के पास लक्ष्मी स्वयं निवास करने को आती है।

इसलिए बराबर उद्योग करते रहना चाहिए। परन्तु एक जगह बैठे रहने से भी मनुष्य धन नहीं कमा सकता। नीति में कहा हुआ है :—

विद्या वित्तं शिल्पं तावन्नाप्नोति मानवः सम्यक्।
यावद्व्रजति न भूमौ देशाद्देशान्तरं हृष्टः ॥

अर्थात् विद्या, द्रव्य कलाकौशल इत्यादि जीविका-सम्बन्धी बातें

मनुष्य को तब तक भली भांति नहीं प्राप्त हो सकतीं जब, तक कि वह पृथ्वी पर्यटन न करे; और आनन्दपूर्वक देशदेशान्तर का भ्रमण न करे। जापान, अमेरिका, जर्मनी इङ्गलैण्ड इत्यादि जितने उन्नत देश हैं, उनके होनहार नवयुवक विद्यार्थी जब एक दूसरे के देशों में जाकर शिल्प कलाकौशल, विज्ञान, कृषि इत्यादि की विद्या सीखकर आये हैं। तब उन्होंने अपने देश को उन्नत किया है; और स्वयं भी उन्नत हुए हैं। हमारे देश के नवयुवक और व्यवसायी लोग कूप-मंडूक की तरह इसी देश में पड़े रहते हैं, और विदेशियों की दलाली करने में ही अपने व्यवसाय की इतिश्री समझते हैं। इसी से हमारे देश का सारा व्यवसाय विदेशियों के हाथ में चला गया है; और हम दिन पर दिन दरिद्र हो रहे हैं। इस लिए हमारे धनवान् नवयुवकों को उचित है कि, वे उपर्युक्त उन्नत देशों में जाकर व्यापार-व्यवसाय का तरीका सीखें, और फिर अपने देश में आकर स्वदेशी व्यापार और कल-कारखाने चलावें, जिससे देश की सम्पत्ति देश में ही रहे; और हमारे देश के श्रमी लोगों को मिहनत-मजदूरी तथा उद्योग-धंधा मिले।

धन की मनुष्य के लिए बड़ी आवश्यकता है। बिना धन कमाये न स्वार्थ होता है, और न परमार्थ। आजकल तो धन की इतनी महिमा है कि भर्तृहरि महाराज के शब्दों में यही कहना पड़ता है कि :—

यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः।
स पंडितः स श्रुतवान् गुणज्ञः॥
स एव वक्ता स च दर्शनीयः।
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति॥

जिसके पास धन है वही मनुष्य कुलीन है, वही पंडित है, वही अनुभवी है; वही गुणज्ञ है, वही वक्ता है, वही दर्शनीय, सुन्दर है, सब गुण एक कांचन में ही बसते हैं और जिसके पास धन नहीं है :—

> माता निन्दति नाभिनन्दति पिता भ्राता न सम्भाषते ।
> भृत्यः कुप्यति नानुगच्छति सुतः कान्ता च नालिंगते ।
> अर्थप्रार्थनशंकया न कुरुते सम्भाषणं वै सुहृत् ।
> तस्माद् द्रव्यमुपार्जय शृणु सखे द्रव्येण सर्वे वशाः ॥

उसको माता गालियां दिया करती है, पिता उसको देखकर प्रसन्न नहीं होता, भाई लोग बात नहीं करते, और नौकर लोग अलग ही मुँह बनाये रहते हैं, लड़के उसका कहना नहीं मानते, स्त्री अलग कटी रहती है, मित्र लोग यदि मार्ग में सामने पड़ जाते हैं, तो इस शंका से मुँह फेर लेते हैं कि कहीं कुछ मांग न बैठे—सीधे बात नहीं करते । इसलिये मित्रों, सुनो, धन कमाओ । क्योंकि धन के ही वश से सब हैं ।

धन कमाओ तो सही; पर उसका उपयोग भी जानो । क्योंकि यदि कमाया और उसका उचित विनियोग न किया तो व्यर्थ है । संसार में प्रायः बहुत लोग ऐसे ही हैं, कि जो धन कमाकर या तो उसे संचित ही रखते हैं, अथवा फिजूलखर्ची में उड़ा देते हैं । दोनों बातें खराब हैं । धन को मौका देख कर न्यूनाधिक खर्च करना चाहिए । नीति में कहा है :—

> यः काकिनीमप्यपथप्रपन्नां ।
> समुद्धरेन्निष्कसहस्रतुल्याम् ॥
> कालेषु कोटिष्वपि मुक्तहस्तः ।
> तं राजसिंह न जहाति लक्ष्मीः ॥

अर्थात् बुरे रास्ते में यदि एक कौड़ी भी जाती हो तो उसे हजार मुहरों की तरह बचा लो, और मौका लगने पर—किसी अच्छे काम में करोड़ों अशर्फियाँ भी मुक्तहस्त होकर खर्च कर लो। जो उद्योगी पुरुष ऐसा करता है—अर्थात् धर्म से कमाया हुआ धन धर्म ही में खर्च करता है, उसको लक्ष्मी कभी नहीं छोड़ती। परन्तु जो मनुष्य अपनी आमदनी का खयाल न करके व्यर्थ में बहुत सा धन खर्च किया करते हैं वे सदैव दुखी रहते हैं। क्योंकि—

आयप्रमाणमनालोच्य व्ययमानः स्ववाञ्छया।
परिक्षीयत एवासौ धनी वैश्रवणोपमः॥

आमदनी का विचार न करके यदि स्वच्छन्दता-पूर्व खर्च करते रहें, तो कुबेर के समान धनी भी निर्धन दरिद्री बन जायँगे।

इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि, अपने अनुकूल उचित जीविका को ग्रहण करके, अपने पुरुषार्थ और बाहुबल से, धर्म के साथ, धन कमावे, परस्त्री और परधन को हरण करने की कभी इच्छा न करे।

मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत्।
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पंडितः॥

जो दूसरे की स्त्री को माता के तुल्य और दूसरे के धन को मिट्टी के ढेले के तुल्य देखता है; और सब प्राणियों का दुख-सुख अपने ही दुःख-सुख के समान देखता है वही सच्चा विवेकी पुरुष है।

५—शौच

शौच का अर्थ है शुद्धता। शुद्धता दो प्रकार की है। एक बाहर की शुद्धता। दूसरी भीतरी की शुद्धता। बाहर की शुद्धता शरीर, वस्त्र, स्थान इत्यादि की शुद्धता आती है; और भीतर की शुद्धता में मन या आत्मा की शुद्धता आती है। मनु महाराज ने एक श्लोक में बाहरी-भीतरी शुद्धता के साधन, थोड़े में, बहुत अच्छी तरह बतला दिये हैं। वह श्लोक इस प्रकार है :—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति॥

मनु०

अर्थात् शरीर, वस्त्र, स्थान इत्यादि बाहरी चीजे पानी-मिट्टी (या साबुन, गोबर) इत्यादि के शुद्ध हो जाती हैं। मन सत्य से शुद्ध होता है। विद्या और तप से आत्मा शुद्ध होती है; और बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है।

मनुष्य को चाहिये कि वह नित्य कुल्ला-दातुन करके मुख को और शुद्ध ठण्ढे जल से स्नान करके अपने सब अंगों को साफ रखे। शरीर की मलीनता से नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो जाते हैं। कपड़ा साफ पहनना चाहिए। मोटे कपड़े से शरीर की सब ऋतुओं में रक्षा होती है। जहाँ तक हो सके कम वस्त्र पहनो और बिना रंग का ही कपड़ा पहनो। सफेद रंग का कपड़ा पहनने से, मैला होने पर, वह तुरन्त ही मालूम हो जाता है और उसे साफ-करके धो सकते हैं, पर रंगीन कपड़ा जिसको "मैलखोरा" कहते है, कभी मत पहनो। कई लोग कपड़ा मैला न हो इसी कारण रंगीन पहनते हैं; पर यह

चाल अच्छी नहीं। रंगीन कपड़े में मैल खपता रहता है; और फिर वही शरीर के लिए हानिकारक होता है।

शरीर और वस्त्रों की सफाई इस विचार से न रखो कि, तुम देखने में सुन्दर लगो; पर इस विचार से रखो कि, तुम्हारा स्वास्थ्य अच्छा रहे; और तुम्हारा चित्त प्रफुल्लित रहे। क्योंकि शरीर और कपड़े साफ रहने से दूसरे पर चाहे जो असर पड़ता हो, अपने चित्त को ही प्रसन्नता होती है। मन में उत्साह बढ़ता है, जिससे मनुष्य के सत्कार्यों में उसको सफलता मिलती है।

यही बात स्थान की सफाई के विषय में भी कही जा सकती है। जगह चाहे थोड़ी ही हो, लेकिन साफ-सुथरी और हवादार हो। अपने अपने स्थान की चीजें ठीक तौर से, जहाँ की तहाँ, सफाई के साथ, रखी हुई हों। इस बाहर की सफाई का शरीर की आरोग्यता और चित्त की प्रसन्नता पर बड़ा अच्छा असर पड़ता है; और ये दो बातें ऐसी हैं कि जिनका मनुष्य के धर्म से बड़ा गहरा सम्बन्ध है।

एक और सफाई का मनुष्य को ध्यान रखना चाहिए; और वह सफाई है—पेट के अन्दर की मलशुद्धि। प्रायः देखा जाता है कि, लोग अपने बालकों को प्रातःकाल शौच जाने की आदत नहीं डलवाते। लड़के उठते ही खाने को मांगते हैं, और मूर्ख माताएँ, बिना शौच और मुख-मार्जन के ही, लाड़-प्यार के कारण उनको कलेऊ खाने को दे देती हैं। पेट का मल साफ न होने के कारण रक्त दूषित हो जाता है; और शरीर रोग का घर बन जाता है। इसलिए प्रातःकाल शौच जाने की आदत जरूर डालना चाहिये, और इस बात का ध्यान रखना चाहिए

कि, जो कुछ भोजन किया जाता है; वह पचकर उसका मल रोज का रोज नियमानुसार निकलता रहता है या नहीं।

ये तो ऊपरी शौच की बातें हुईं। अब हम भीतरी शुद्धता के विषय में कुछ लिखेंगे। वास्तव में भीतरी शुद्धता पर ही मनुष्य का जीवन बहुत कुछ अवलम्बित है; क्योंकि उसका सम्बन्ध मन, बुद्धि और आत्मा की पवित्रता से है। जब तक मनुष्य का मन, बुद्धि आत्मा पवित्र नहीं है, तब तक बाहरी शुद्धि का सम्बन्ध तो विशेष कर शरीर से ही है; और शरीर भी केवल बाहरी शुद्धि से उतना लाभ नहीं उठा सकता; जब तक मन, बुद्धि और आत्मा पवित्र न हो।

मन की शुद्धि का साधन महर्षि मनु ने 'सत्य' बतलाया है। जो मनुष्य सत्य ही बात मन में सोचता है, सत्य ही बात मुख से निकालता है; और सत्य ही कार्य करता है, उसका मन शुद्धि रहता है। वास्तव में मन ही मनुष्य के बन्ध और मोक्ष का कारण है। क्योंकि श्रुति में कहा है कि—

यन्मनसा ध्यायति तद्वाचा वदति।
यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति।
यत्कर्मणा करोति तदभिसम्पद्यते॥

अर्थात् मनुष्य जिस बात का मन से ध्यान करता है, उसी को वाचा से कहता है; और जिसको वाचा से कहता है, वही कर्म से करता है; और जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल मिलता है। इसलिए सत्य का ही ध्यान करना चाहिए, जिससे मन, वचन और कर्म पवित्र हो।

जैसे मनुष्य का मन सत्य से शुद्ध होता है, वैसे ही उसकी आत्मा विद्या और तप से शुद्ध होती है। आत्मा कहते हैं, जीव

को। जब मनुष्य विद्या का अध्ययन करता है; और तप करता है—अर्थात् सत्कर्मों के लिए कष्ट सहता है, तब उसका जीव या आत्मा पवित्र हो जाती है। उसके सब संशय दूर हो जाते हैं।

आत्मा की शुद्धि के साथ बुद्धि भी शुद्ध होनी चाहिए। जो बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है। क्योंकि ज्ञान के समान इस संसार में और कोई वस्तु पवित्र नहीं है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने ज्ञान की महिमा वर्णन करते हुए कहा है :—

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥

गीता

अर्थात् ज्ञान (जीव, सृष्टि और परमात्मा का ज्ञान) उसी को प्राप्त होता है, जो श्रद्धावान् होता है, ज्ञान में मन लगाता है; और इन्द्रियों का संयम करता है। और जहाँ एक बार मनुष्य ने ज्ञान प्राप्त कर लिया, कि फिर वह परम शान्ति को पाता है। परम शान्ति के प्राप्त होने पर मनुष्य की बुद्धि पवित्र होकर स्थिर हो जाती है। उस दशा में कोई बुरी बात मनुष्य के मन में आती ही नहीं। जो जो कार्य उसके द्वारा होते हैं, सब संसार के लिए हितकारी होते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर बतलाया, मनुष्य को अपना शरीर, मन, आत्मा, बुद्धि इत्यादि पवित्र रखते हुए भीतर-बाहर शुद्ध रहने का बराबर प्रयत्न करते रहना चाहिए। शुभ गुणों की वृद्धि और अशुभ गुणों का त्याग करने से मनुष्य भीतर-बाहर शुद्ध हो जाता है और लोक-परलोक दोनों में उसको सुख मिलता है।

६—इन्द्रिय-निग्रह

मनुष्य के शरीर में परमात्मा ने दस इन्द्रियाँ दी हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं; और पाँच कर्मेन्द्रियाँ। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ ये हैं :— (१) आँख, (२) कान, (३) नाक, (४) रसना, अर्थात् जिह्वा; (५) त्वचा, अर्थात् खाल। इन पाँचों इन्द्रियों से हम विषयों का ज्ञान प्राप्त करते हैं—जैसे आँख से भला-बुरा रूप देखना, कान से कोमल-कठोर शब्द सुनना, नाक से सुगन्ध-दुर्गन्ध सूंघना, रसना से स्वाद चखना, त्वचा से कठोर अथवा मुलायम चीज का स्पर्श करना। प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय का एक एक सहायक देवता भी है। उसी देवता से उस इन्द्रिय के विषय की उत्पत्ति होती है। जैसे आँख का विषय रूप है, यह अग्नि अथवा सूर्य का गुण है। सूर्य या अग्नि यदि न हो, तो हमारी आँख-इन्द्रिय बिलकुल बेकाम है। इसी प्रकार कान का विषय शब्द है। यह आकाश का गुण है। आकाश ही के कारण शब्द उठता है। नाक का विषय गन्ध है। गंन्ध पृथ्वी का गुण है। जीभ का विषय रस है, जो जल का गुण है, और त्वचा का विषय स्पर्श है। यह वायु का गुण है। ये पांच ज्ञानेन्द्रियां और उनके विषय प्रधान हैं। अब पाँच कर्मेन्द्रियों को लीजिए :—

(१) वाणी; (२) हाथ; (३) पैर; (४) लिंग; और (५) गुदा। वाणी से हम बोलते हैं। यह भी जिह्वा ही है। जिह्वा में परमात्मा ने ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनो की शक्ति दी है। स्वाद भी चखते हैं, और बोलते भी हैं। हाथ से कार्य करते हैं। पैर से चलते हैं। लिंग से मूत्र छोड़ते हैं, और गुदा से मल निकालते हैं।

ज्ञान-इन्द्रियाँ ईश्वर ने हमारे शरीर में ऊपर की ओर

बनाई है; और कर्मेन्द्रियाँ नीचे की ओर—इससे ईश्वर ने ज्ञान को प्रधानता दी है; और हमको बतलाया है कि, ज्ञान के अनुसार ही कर्म करो। अस्तु। हमारी आत्मा मन को संचालित करके इन्द्रियों के द्वारा सब विषयों का भोग भोगती है। उपनिषदों में इसका बहुत ही अच्छा रूपक बांधा गया है।

आत्मानं रथिन विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

कठोपनिषद्

यह शरीर एक रथ है, जिसका रथी, अर्थात् इस पर आरूढ़ होनेवाला, इसका स्वामी, जीवात्मा है। जीवात्मा इस शरीर रूपी रथ पर बैठ कर मोक्ष को प्राप्त करना चाहता है। अब, रथ में घोड़े चाहिये। सो दसों इन्द्रियाँ इस रथ के घोड़े हैं। अब घोड़ों में बागडोर चाहिए, सो मन ही इन घोड़ों की बागडोर है। रथ हो गया, रथी हो गया, घोड़े हो गये, घोड़ों की बागडोर हो गई; अब उस बागडोर को पकड़ कर घोड़ों को अपने वश में रखते हुये रथ को ठीक स्थान में, परमात्मा या मुक्ति की ओर, ले जानेवाला सारथी चाहिए। यह सारथी बुद्धि या विवेक है। अब इन्द्रियरूपी घोड़ों के चलने का मार्ग चाहिए। यह मार्ग इन्द्रियों के विषय हैं; क्योंकि विषयों की ही ओर इन्द्रियाँ दौड़ती हैं। इस लिए जो ज्ञानी पुरुष हैं, वे बुद्धि या विवेक के द्वारा इन्द्रियों की बागडोर मन को बड़ी दृढ़ता से अपने हाथ में पकड़ कर, उनको उनके विषयों के रास्ते में इस ढङ्ग से ले चलते हैं, कि जिससे वे सुखपूर्वक ईश्वर के समीप पहुँच कर मुक्ति की प्राप्ति करते हैं।

इन्द्रिय-निग्रह का सिर्फ इतना ही मतलब है कि, इन्द्रियां बुरी तरह से अपने-अपने विषयों की ओर न भगने पावें। जितनी जिस विषय की आवश्यकता है, उतना ही उस विषय को ग्रहण करें। विषयों में बुरी तरह से फँस कर—बेतहाशा विषयों के मार्ग में भगकर ,इस शरीररूपी रथ को तोड़-फोड़ कर नष्ट न कर डालें। यदि इन्द्रियाँ इस प्रकार कुमार्गो पर भगेंगी, तो रथ, रथी, सारथी, बागडोर इत्यादि सब नष्टभ्रष्ट हो जायँगे। इसलिए बुद्धि या विवेक रूपी सारथी को सदैव सचेत रखो। वही इन इन्द्रियरूपी दसों घोड़ों का निग्रह कर सकता है।

कई लोग इन्द्रिय-निग्रह का उपर्युक्त सच्चा अर्थ न समझ कर इन्द्रियों को ही मारने की कोशिश करते हैं। परन्तु इन्द्रियों का तो स्वभाव ही है कि वे अपने-अपने विषयों की ओर दौड़ती है। जब तक इस शरीर मे आत्मा, मन और इन्द्रियाँ है, तब तक विषय उनसे छूट नहीं सकते। खाली निग्रह कुछ काम नहीं कर सकता। जो केवल निग्रह से ही काम लेना चाहते हैं—विवेक या बुद्धि को उसके साथ नहीं रखते है, उनका मन विषयो से नहीं छूटता है। मन तो उनका विषयों की ओर दौड़ता ही है, परन्तु केवल इन्द्रियों को वे दबाना चाहते हैं। ऐसे लोगों को भगवान् कृष्ण ने गीता में पाखण्डी बतलाया है :—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥

श्रीमद्भगवद्गीता

जो मूर्ख ऊपर ऊपर से कर्मेन्द्रियों का संयम करके मन से दिन–

ात विषयों का चिन्तन किया करता है, वह पाखण्डी है। इस लिए विवेक से मन का ही दमन करना चाहिए। ऐसा करने से इन्द्रियाँ विषयों में नहीं फँसतीं। भगवान् मनु ने स्पष्ट कहा है:—

वशे कृत्वेन्द्रियग्रामं संयम्य च मनस्तथा।
सर्वान् संसाधयेदर्थानाक्षिण्वन् योगतस्तनुम्॥

मनु०

अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पाँच कर्मेन्द्रिय और ग्यारहवें मन को भी वश में करके इस प्रकार से युक्ति के साथ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष का साधन करे कि जिससे शरीर क्षीण न होने पावे। व्यर्थ में शरीर को कष्ट देने से इन्द्रियों का निग्रह नहीं हो सकता। बल्कि विवेक के साथ युक्ताहारविहार को ही इन्द्रिय-निग्रह कहते हैं। इन्द्रियों के जितने विषय हैं, उनका सेवन करने से कोई हानि नहीं है, परन्तु धर्म की मर्यादा से बाहर नहीं जाना चाहिये। यदि मनुष्य विषयों में फँस जायगा तो जरूर धर्म की मर्यादा से बाहर हो जायगा, और अपना लोक-परलोक बिगाड़ेगा। ऐसे ही लोगों के लिए महाभारत में कहा है :—

शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञः करोति विघसं बहु।
मोहरागबलाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः॥

महाभारत, वनपर्व

मूर्ख आदमी मोह और प्रेम में आकर, इन्द्रियों के विषयों के अधीन होकर, शिश्न और उदर के लिए, मिथ्या आहार और विहार करते हैं। अनेक प्रयत्न करके सुन्दर भोजन और स्त्री-विषय का सेवन करके नष्ट होते हैं। प्राणी की प्रत्येक इन्द्रिय का विषय इतना प्रबल है कि, वह अकेला ही उसको नाश

करने के लिए पर्याप्त है। फिर यदि पाँचों विषय अपना-अपना काम इन्द्रियों पर करने लगें तो फिर मनुष्य के नष्ट होने में क्या सन्देह ? किसी कवि ने कहा है :—

कुरंग मातंग पतंग भृंग।
मीना हताः पंचभिरेव पंच॥
एकः प्रमादी स कथं न हन्यते।
यः सेवते पंचभिरेव पंच॥

अर्थात् हरिन व्याधा की बांसुरी की सुन्दर तान सुनकर मारा जाता है, हाथी मृदुल घास से पूरे हुए गड्ढे में लेटकर स्पर्श-सुख का अनुभव करने में नीचे धँस जाता है, पतिंगा दीपक का सुन्दर रूप देख कर जल मरता है, भौंरा रस के लोभ में आकर कंटकों से विरुद्ध होकर अपने प्राण देता है, मछली वंशी में लगे हुए मांस के टुकड़े की गन्ध पाकर उसकी ओर आकर्षित होती है, और वंशी को निगलकर अपने प्राण देती है। ये प्राणी एक ही एक इन्द्रिय विषय में फँस कर नष्ट होते हैं; फिर मनुष्य, जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध, इन पाँचों विषयों का दास हो जाय, तो वह क्यों नहीं नष्ट होगा ?

इस लिए मनुष्य को इन विषयों का दास नहीं होना चाहिए बल्कि विषयों को अपना दास बना कर रखना चाहिए जो पुरुष जितेन्द्रिय होते हैं, वे विषयों का, उचित मात्रा में, और धर्म की मर्यादा रखते हुए सेवन करते हैं, और प्रिय अथवा अप्रिय विषय पाकर मन में हर्ष-शोक नहीं मानते। मनुजी कहते हैं :—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः॥
मनु०

अर्थात् निन्दास्तुति, अथवा मधुर शब्द या कठोर शब्द, सुनने से, कोमल या कठोर वस्तु के स्पर्श करने से, सुन्दर अथवा कुरूप वस्तु देखने से, सुन्दर सरस अथवा नीरस कुस्वादु भोजन से, सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध पदार्थ सूंघने से आनन्द अथवा खेद न हो, दोनों में अपनी वृत्ति को समान रखे, वही मनुष्य जितेन्द्रिय है।

जितेन्द्रिय पुरुष ही मोक्ष प्राप्त कर सकता है। विषयों में फँसा हुआ मनुष्य दुर्गति को प्राप्त होता है।

७—धी

ईश्वर ने जितने प्राणी संसार मे पैदा किए हैं, उन सब में मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्य क्यों श्रेष्ठ है ? उसमें ऐसी कौन सी बात है, जो और प्राणियो में नहीं है? आहार, निद्रा, भय, मैथुन, इन चार बातों का ज्ञान मनुष्य को है, उसी की तरह अन्य प्राणियों को भी है। परन्तु एक बात मनुष्य में ऐसी है, जो अन्य प्राणियों में नहीं है। और वह बात है—बुद्धि या विवेक। इसी को मनुजी ने धी कहा है। मनुष्य को ही परमात्मा ने यह शक्ति दी है कि, जिससे वह भली-बुरी बात का ज्ञान कर सकता है। किस मार्ग से चलूँ, जिससे हमारा उपकार हो, और दूसरों को हानि न पहुँचे ? किस मार्ग से चलें, जिससे हमारा भी उपकार हो, और दूसरों का भी उपकार हो ? यह विवेक मनुष्य को परमात्मा ने दिया है। उसने मनुष्य को बुद्धि दी है, जिससे वह दूसरे प्राणियों के मन की बात जान सकता है। जिसको यह ज्ञान है कि, जिस बात से

हमको सुख होता है; उससे दूसरे को भी होता है, और जिस बात से हमको कष्ट होता है, उससे दूसरों को भी कष्ट होता है। इन सब बातों को सोचकर ही वह संसार में वर्त्तता है। और यदि यह विवेक और बुद्धि मनुष्य में न हो, तो पशु में और मनुष्य में कोई अन्तर नहीं। कृष्ण भगवान् ने गीता में बुद्धि भी तीन प्रकार की बतलाई है :—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्विकी॥
यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी॥
अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी॥

गीता, अ० १८

किस काम से हित होगा, किससे अहित होगा, क्या काम करना चाहिये, क्या न करना चाहिये, भय कौन सी चीज़ है; और निर्भयता क्या है, बन्धन किन बातों से होता है, और स्वतन्त्रता या मोक्ष किन बातों से मिलती है—यह जिससे जाना जाता है वह उत्तम, अर्थात् सात्विकी बुद्धि है। इसी प्रकार जिस बुद्धि धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्य का कुछ ठीक ठीक ज्ञान नहीं होता—भ्रम में आकर सब काम करता है, भाग्यवश चाहे कोई बात कल्याणकारी हो जावे—ऐसी बुद्धि राजसी कहलाती है; और जो बुद्धि अधर्म को धर्म मानती है, तथा तमोगुण के प्रभाव के कारण जो बुद्धि सब कामों को उलटा ही समझती है, वह तामसी बुद्धि है।

जो सतोगुणी बुद्धि को धारण करता है, वही सच्चा बुद्धि-

मान है। महाभारत में व्यासजी ने बुद्धिमान मनुष्य का लक्षण इस प्रकार दिया है :—

धर्ममर्थं च कामं च त्रीनेतान् योऽनुपश्यति।
अर्थमर्थानुबन्धं च धर्मन्धर्मानुबन्धनम्॥
कामं कामानुबन्धं च विपरीतान् पृथक् पृथक्।
यो विचिन्त्य धिया धीरोव्यवस्यति स बुद्धिमान्॥

महाभारत, आदिपर्व

धर्म, अर्थ, काम, तीनों का जो अच्छी तरह विचार करता है—देखता है कि अर्थ क्या है; और किस प्रकार से सिद्ध किया जाय; धर्म क्या है; और उसके प्रधान साधन क्या हैं; तथा काम क्या है; और उसको किस प्रकार से सिद्ध करें, तथा ऐसे कौन कौन से विघ्न हैं कि, जिनके कारण से हम इन तीनों पुरुषार्थों को भली भाँति सिद्ध नहीं कर सकते। इस बात को जो धीर पुरुष अपनी बुद्धि से विचारता है, वही बुद्धिमान है।

बुद्धिमान मनुष्य प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक प्राणी की परीक्षा कर के उसके हृदय में बैठ जाता है; और जिस प्रकार जो मानता है; उसी प्रकार उसको वश में कर लेता है। वह किसी का अप्रिय आचरण नहीं करता। अपनी उन्नति करता है; पर दूसरे की हानि नहीं होने देता। व्यासजी कहते हैं :—

न वृद्धिर्बहुमन्तव्या या वृद्धिः क्षयमावहेत्।
क्षयोऽपि बहुमन्तव्यो यः क्षयो वृद्धिमावहेत्॥

म० भा०, उद्योगपर्व

जिस उन्नति से दूसरे की हानि हो, वह वास्तव में उन्नति नहीं, वास्तविक उन्नति तो वह है कि, जिससे दूसरे का लाभ हो, चाहे अपनी कुछ हानि हो जाय, तो भी परवा नहीं।

परन्तु वास्तव में बिना सोचे-विचारे कोई भी काम नहीं करना चाहिए। किसी कवि ने कहा है :—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणतिरवधार्या यत्नतः पंडितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते,
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः॥

अर्थात् भला बुरा कैसा ही कार्य करना हो, बुद्धिमान लोग पहले उसका नतीजा भली भाँति सोच लेते हैं; क्योंकि बिना विचारे जो कार्य जल्दी में किया जाता है, उसका फल शल्य की तरह हृदय को दुःखदायक होता है।

जो बात अपनी समझ में न आवे, उसको वृद्ध और विद्वान् लोगों से पूछना चाहिए। हितोपदेश में कहा है :—

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुम्।
विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्॥
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य।
यः संपृच्छेन्नो स मुह्येत् कदाचित्॥

जब कोई काम हमको करना हो, अथवा न करना हो, तब अपने भाई बन्दों से, जो हमसे विद्या, बुद्धि, धर्म और अवस्था में वृद्ध हों, सन्मान और प्रेमपूर्वक पूछना चाहिए। उनको प्रसन्न करके, उनकी सलाह से, जो मनुष्य काम करता है, वह कभी मोह अथवा भ्रम में नहीं पड़ता।

जो मनुष्य विवेकशील, और बुद्धिमान होता है, वह आनेवाले संकट को पहले ही जानकर उसको रोकने का उपाय करता है। भावी पर भरोसा किये बैठा नहीं रहता। वह आगे पैर रखने की जगह देखकर पीछे का पैर उठाता है; सहसा बिना विचारे कोई काम नहीं करता। नीति में कहा है :—

यो ध्रुवाणि परित्यज्य अध्रुवाणि निषेवते ।
ध्रुवाणि तस्य नश्यन्ति अध्रुवं नष्टमेव हि ॥

जो स्थिर वस्तु को त्याग कर अस्थिर के पीछे दौड़ता है, उसकी स्थिर वस्तु भी नाश हो जाती है; और अस्थिर तो नाश है ही। इसलिए खूब सोच-समझ कर किसी काम में हाथ लगाना चाहिए। महाभारत में कहा है :—

सुमंत्रिते सुविक्रान्ते सुकृते सुविचारिते ।
सिध्यन्त्यर्था महाबाहो दैवं चात्र प्रदक्षिणम् ॥

महाभारत, वनपर्व

जो कार्य स्वयं अच्छा होता है; और अच्छी तरह से सोच-समझ कर तथा बड़ों से सलाह लेकर किया जाता है और उसमें खूब परिश्रम भी किया जाता है, वह कार्य सिद्ध होता है; और ईश्वर तथा भाग्य भी उसी के अनुकूल होता है। सोच-समझ कर किया हुआ कार्य ही स्थायी होता है। इस विषय में नीति में कहा है :—

सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः
सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः ।
शुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥

खूब अच्छी तरह पचा हुआ अन्न, बुद्धिमान लड़का, अच्छी तरह सिखाई हुई स्त्री, भली भाँति प्रसन्न किया हुआ राजा, विचारपूर्वक कही हुई बात, विवेकपूर्वक किया हुआ कार्य, ये बहुत काल तक बिगड़ नहीं सकते—ठीक बने रहते हैं।

बुद्धिमान पुरुषों को जो कार्य करना होता है; उसको वे पहले प्रकट नहीं करते; जब कार्य हो जाता है, तब आप ही आप

लोग उसे जान लेते हैं। इस विषय में महाभारत, उद्योगपर्व में कहा है :—

करिष्यन्न प्रभाषेत कृतान्येव तु दर्शयेत् ।
धर्मकामार्थकार्याणि तथा मन्त्रो न भिद्यते ।
यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पंडित उच्यते ॥

जो कार्य करना हो, उसको कहना नहीं चाहिए, जो कर चुके हैं, उसको कहने में कोई भय नहीं। धर्म, अर्थ, काम, इत्यादि सांसारिक पुरुषार्थों के जितने कार्य हैं, उनको गुप्त ही रखना चाहिए। जब हो जायँगे, तब आप ही प्रकट हो जायँगे। इसी प्रकार उनके सम्बन्ध के सब गुप्त विचार भी कभी प्रकट न होने देने चाहिएं। वास्तव में बुद्धिमान मनुष्य वही है कि जिसका गुप्त विचार तथा दूसरे को बतलाई हुई गुप्त बात, कोई और न जान सके। हाँ; जो कार्य वह कर चुका हो, उसको भले ही कोई जान लेवे।

किन किन बातों का बुद्धिमान मनुष्य को बार बार विचार करते रहना चाहिए, इस विषय में चाणक्य मुनि का वचन याद रखने योग्य है :—

कः कालः कानि मित्राणि को देशः को व्ययागमौ ।
कस्याहं का च मे शक्तिः इति चिन्त्यं मुहुर्मुहुः ॥

समय कैसा वर्त्त रहा है, हमारे शत्रु-मित्र कौन हैं, देश कौन और कैसा है, आमदनी और खर्च क्या हैं, हम कौन हैं, हमारी शक्ति क्या है, कितनी शक्ति हममें है, इन सब प्रश्नों के विषय में मनुष्य को बारम्बार विचार करते रहना चाहिए।

८—विद्या

विद्या का अर्थ है जानने की बात। संसार में जितनी चीजें हमको दिखलाई देती हैं, और जो नहीं दिखलाई देतीं, सब जानने की बात है। सब का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। सृष्टि से लेकर ईश्वर पर्यन्त सब का ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य की भीतरी आँख खुल जाती है। परन्तु यदि अधिक न हो सके, तो अपनी शक्ति भर, जहाँ तक हो सके, विद्या और ज्ञान प्राप्त करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। किसी कवि ने कहा है कि—

अनन्तशास्त्रं बहुलाश्च विद्या,
स्वल्पश्च कालो बहुविघ्नता च।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं,
हंसैर्यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात्॥

अर्थात् शास्त्र अनन्त है। विद्या बहुत है। समय बहुत थोड़ा है। विघ्न बहुत हैं। इसलिए जो सारभूत है, वही उपासनीय है, जैसे हंस पानी में से दूध ले जाता है।

इसलिये अपनी शक्ति भर माता-पिता को अपने बालकों को विद्या अवश्य पढ़ानी चाहिये। चाणक्यनीति में कहा है:—

माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा॥

अर्थात् जो माता-पिता अपने बालकों को विद्याभ्यास नहीं कराते, वे शत्रु हैं। उनके बालक बड़े होने पर सभा में अपमानित होते हैं; और ऐसे कुशोभित होते हैं, जैसे हंसों के बीच में बगुला।

अनेक माता पिता अपने बालकों को, मोह में आकर, लाड़-प्यार में डाले रखते हैं। लड़का ८-१० वर्ष का बड़ा हो जाता है, फिर भी झूठे प्रेम में आकर उसकी चाल नहीं सुधारते हैं, और मोह मे आकर कहते हैं, "पढ़ लेगा, अभी बच्चा है।" परन्तु वे नहीं समझते कि, हम लाड़ प्यार में अन्धे होकर बच्चे का जीवन खराब कर रहे हैं। 'प्रेम' में पड़कर उनको 'श्रेय' का ध्यान ही नहीं रहता। प्रेम कहते हैं उसको, जो पहले तो प्रिय मालूम होता है; परन्तु पीछे से विष का काम करत है; और श्रेय उसको कहते हैं जो पहले कष्टदायक मालूम होता है, पर पीछे से उसमें हित होता है। लड़कों का प्यार भी एक ऐसी ही चीज़ है, जो पहले तो माता, पिता, इत्यादि को मोह के कारण, प्रिय मालूम; होता है; पर पीछे से वही लड़के जब उद्दण्ड बन जाते हैं, तब माता-पिता और सब को दुःख होता है। इसलिए पाणिनि मुनि ने लिखा है :—

सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः ।
लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः ॥

अर्थात् जो माता-पिता और गुरु अपनी सन्तान और शिष्यों का ताड़न करते हैं, वे मानो अपनी सन्तान और शिष्यों को अमृत पिला रहे हैं, और जो उनका लाड़-प्यार करते हैं, वे उनको मानो विष पिलाकर नष्ट-भ्रष्ट कर रहे हैं; क्योंकि लाड़-प्यार से सन्तान और शिष्यों में अनेक दोष आ जाते हैं; और ताड़न से उनमें गुण आते हैं।

बालकों को भी चाहिये कि वे ताड़ना से प्रसन्न और लाड़-प्यार से दूर रहा करें। परन्तु माता-पिता, गुरु इत्यादि को ध्यान रखना चाहिये, कि वे द्वेष में आकर उनका ताड़न न करें;

किन्तु भीतर से उन पर कृपा-भाव रखकर ऊपर से उन पर कठोर दृष्टि रखें।

अस्तु। विद्या पढ़ने-पढ़ाने में उपर्युक्त बात का ध्यान अवश्य रखना चाहिये। और इसी लिए हमने इस पर विशेष जोर दिया है। मनुष्य को विद्या की बड़ी आवश्यकता है। इसलिये नहीं कि सिर्फ अपनी जीविका चलाकर अपना पेट भर ले; बल्कि इस लोक और परलोक के सब कर्त्तव्यों को करते हुए अपने देश का भी उपकार कर सके। विद्या की महिमा का वर्णन करते हुए किसी कवि ने बहुत ही ठीक कहा है :—

विद्यानाम नरस्य रूपमधिकं प्रच्छन्न गुप्तं धनम्।
विद्या भोगकरी यशः सुखकरी विद्या गुरूणां गुरुः॥
विद्या बन्धुजनो विदेशगमने विद्या परं दैवतम्।
विद्या राजसु पूज्यते न हि धनं विद्याविहीनः पशुः॥

अर्थात् विद्या मनुष्य की बड़ा भारी सौन्दर्य है। यह गुप्त धन है। विद्या भोग, यश और सुख को देने वाली है। विद्या गुरुओं का गुरु है। विदेश जाने पर विद्या ही मनुष्य का बन्धु सहायक है। विद्या एक सर्वश्रेष्ठ देवता है। विद्या राजाओं के लिए भी पूज्य है। इसके समान और कोई धन नहीं। जो मनुष्य विद्या से विहीन है, वह पशु है।

विद्या-धन में एक बड़ी विशेषता और भी है। वह यह कि, यह खर्च करने से और भी बढ़ता है। दूसरे धन खर्च करने से घटते हैं; परन्तु इसकी गति उलटी है। यदि विद्या दूसरे को दान न की जाय—पढ़ने-पढ़ाने का क्रम जारी न रखा जाय, तो यह भूल जाती है। और यदि पढ़ना-पढ़ाना जारी रखा जाय, तो इसकी और वृद्धि होती जाती है। इसी पर एक कवि ने बड़ी अच्छी उक्ति की है। वह कहता है :—

अपूर्वः कोऽपि कोषोयं विद्यते तव भारति ।
व्ययाद्व वृद्धिमायाति क्षयमायाति संचयात् ॥

अर्थात् हे सरस्वती देवी, आप के कोष की दशा तो बहुत ही विचित्र जान पड़ती है। क्योंकि व्यय करने से इसकी वृद्धि होती है; और संचय करने से यह घट जाता है। किसी हिन्दी कवि ने एक दोहे में यही भाव दर्शाया है :—

सरसुति के भंडार की बड़ी अपूरब बात।
ज्यों-ज्यों खरचे त्यों-त्यो बढै बिन खरचे घटि जात ॥

इसलिए मनुष्य को चाहिये कि, विद्या का पढ़ना-पढ़ाना कभी बन्द न करे। कौन से शास्त्र और विद्या मनुष्य को पढ़नी चाहिये, इस विषय में मनुजी का आदेश इस प्रकार है :—

बुद्धिवृद्धिकराण्याशु धन्यानि च हितानि च ।
नित्य शास्त्राण्यवेक्षेत निगमाश्चैव वैदिकान् ॥

वेदादि शास्त्र, जिनमें शिल्पशास्त्र, आयुर्वेद, धनुर्वेद इत्यादि सब आ जाते हैं; और जो शीघ्र बुद्धि, धन और हित को बढ़ाने वाले हैं, उनको नित्य पढ़ना-पढ़ाना चाहिये। यह नहीं कि, विद्यालय में पढ़कर उनको भूल जाओ; बल्कि जीवन भर अपनी जीविका का कार्य करते हुये उनका अभ्यास करते रहना चाहिये।

आजकल पुस्तकी विद्या का बहुत प्रचार हो रहा है; पर वास्तव में पुस्तकी विद्या सदैव काम नहीं देती। इस लिये विद्या अपने आचरण में लानी चाहिये। सब बाते कंठाग्र होनी चाहिये। और उनको कार्य में लाने का कौशल भी जानना चाहिये। पुस्तकी विद्या के विषय में चाणक्य मुनि ने इस प्रकार कहा है :—

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद्धनम् ।
उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद्धनम् ।।

चाणक्य०

अर्थात् पुस्तक की विद्या और पराये हाथ का धन कार्य पड़ने पर उपयोग में नहीं आता। न वह विद्या है; और न वह धन है।

विद्या पढ़ने में बालकों को खूब मन लगाना चाहिये क्योंकि बालपन में जो विद्या पढ़ ली जाती है ; वह जिन्दगी भर सुख देती रहती है और विद्या एक ऐसा धन है, जिसमें किसी प्रकार का विघ्न भी नहीं है। किसी कवि ने कहा है :—

न चौरहार्यं न च राजहार्यं
न भ्रातृभाज्यं न च भारकारी।
व्यये कृते वर्धत एव नित्यं ।
विद्याधनं सर्वधनप्रधानम् ।।

अर्थात् विद्या-धन को न तो चोर चुरा सकता है, न राजा डांड सकता है, न भाई बॅटा सकता है, और न कोई इसका बोझा है। फिर व्यय करने से रोज बढ़ता है। सचमुच ही विद्याधन सब धनों से श्रेष्ठ है।

९—सत्य

जो बात जैसी देखी, सुनी अथवा की हो, अथवा जैसी वह मन में हो, उसको उसी प्रकार वाणी द्वारा प्रकट करना सत्य बोलना कहलाता है। मनुष्य को न सिर्फ सत्य बोलना ही चाहिये; बल्कि सत्य ही विचार मन में लाना चाहिये; और सत्य ही काम भी करना चाहिये। सर्वथा सत्य का व्यवहार करने से ही मनुष्य को स्वार्थ और परमार्थ में सच्ची सफलता मिल सकती है। जो मनुष्य अपने सब कार्यों में सत्य का धारण करता है वह क्रियासिद्ध और वाचासिद्ध हो जाता है। अर्थात् जो कार्य वह करता है, उसमें निष्फलता कभी होती ही नहीं ; और जो बात वह कहता है वह पूरी ही हो जाती है।

सत्य वास्तव में ईश्वर का स्वरूप है। इसलिए जिसके हृदय में सत्य का वास है, उसके हृदय में ईश्वर का वास है। किसी कवि ने कहा है :—

सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हिरदे साँच है, ताके हिरदे आप॥

अर्थात् सत्य के समान और कोई तप नहीं; और झूठ के बराबर कोई पाप नहीं हैं। जिसके हृदय में सत्य का वास है, उसके हृदय में परमात्मा का वास है। इसलिये सत्य का आचरण करने में कभी मनुष्य को पीछे न हटना चाहिये। उपनिषद् में भी यह कहा है :—

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्॥

अर्थात् सत्य से श्रेष्ठ अन्य कोई धर्म नहीं है ; और झूठ के बरा-

कर अन्य कोई पातक नहीं है। इसी प्रकार सत्य से श्रेष्ठ और कोई ज्ञान नहीं है। इस लिये सत्य का ही आचरण करना चाहिये।

प्रायः संसार में ऐसा देखा जाता है कि सत्य का आचरण करनेवाले को कष्ट उठाना पड़ता है; और मिथ्याचरणी पाखंडी धूर्त लोग सुख से जीवन व्यतीत करते हैं। परन्तु जो विचार-शील मनुष्य हैं, वे जानते हैं कि सत्य से प्रथम तो चाहे कष्ट हो; परन्तु अन्त में अक्षय सुख की प्राप्ति होती है। और मिथ्या आचरण से पहले सुख होता है; और अन्त में मनुष्य की दुर्गति होती है। वास्तव में सच्चा सुख वही है, जो परिणाम में हितकारक हो। देखिये, कृष्ण भगवान् गीता में तीन प्रकार के सुखों की व्याख्या करते हुए कहते हैं:—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

अर्थात् जो पहले तो विष की तरह कटु और दुःखदायक मालूम होता है; परन्तु पीछे अमृत के तुल्य मधुर और हितकारक होता है, वही सच्चा सात्त्विक सुख है। ऐसा सुख आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है।

आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता का उपाय क्या है? क्या मिथ्या आचरण से कभी आत्मा और बुद्धि प्रसन्न हो सकती है? सब जानते हैं कि, पापी आदमी की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती। उसका पाप ही उसको खाता रहता है। पहिले तो वह समझता है कि मैं मिथ्या आचरण करके खूब सुखी हूँ; पर उसके उसी सुख के अन्दर ऐसा गुप्त विष छिपा हुआ है जो किसी दिन उसका सर्वनाश कर देगा। उस समय उसे स्वर्ग

नरक कहीं भी ठिकाना न लगेगा। इसलिए मिथ्या आचरण छोड़कर मनुष्य को सदैव सत्य का ही बर्ताव करना चाहिये। इसी से मन और बुद्धि को सच्ची प्रसन्नता प्राप्त होती है; और ऐसा सच्चा सुख प्राप्त होता है, जिसका कभी नाश नहीं होता।

सत्य से ही यह सारा संसार चल रहा है। यदि सत्य एक क्षण के लिए भी अपना कार्य बन्द कर दे, तो प्रलय हो जाय। यदि एक मनुष्य कुछ मिथ्या आचरण करता है, तो दूसरा तुरन्त ही सत्य आचरण करके इस सृष्टि की रक्षा करता है। यह मनुष्य की ही बात नहीं है; बल्कि संसार की अन्य सब भौतिक शक्तियाँ भी सत्य से ही चल रही हैं। चाणक्यनीति में कहा है :—

सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से ही सूर्य तप रहा है; और सत्य से ही वायु बह रही है। सत्य में सब स्थिर है।

जो लोग सत्य का आचरण नहीं करते हैं, उनकी पूजा, जप, तप सब व्यर्थ है। जैसे ऊसर भूमि में बीज बोने से कोई फल नहीं होता, उसी प्रकार मिथ्या आचरण करने वाला, चाहे जितना धर्म करे, सत्य के बिना उसका कोई फल नहीं होता। आजकल प्रायः हमारे देश में देखा जाता है कि पाखण्डी लोग सब प्रकार से मिथ्या व्यवहार करके, लोगों का गला काटकर, अपने सुख-भोग के सामान जमा करते हैं; परन्तु ऊपर से अपना ऐसा भेष बनाते हैं जैसे वे कोई बड़े भारी साधु और ईश्वर भक्त हों। स्नान-सन्ध्या, जप, तप, सब धर्म के कार्य नियमित रूप से करते हैं, कचहरी में जाकर झूठी गवाही देते

हैं। ऐसे लोगों का सब धर्म-कर्म व्यर्थ है। लोग उनको अच्छी दृष्टि से नहीं देखते। भले आदमियों में उनका आदर कभी नहीं होता। ऐसे धूर्त और पाखण्डी लोगों से सदैव बचना चाहिये।

ये लोग ऊपर से सत्य का आवरण रखकर भीतर से मिथ्या व्यवहार करते हैं। जो सीधे-सादे मनुष्य होते हैं, जिनको नीति का ज्ञान नहीं है, वे इनकी 'पालिसी' में आ जाते हैं। जिसमें मिथ्या की पालिश की होती है, उसी को 'पालिसी' कहते हैं। पालिसी को सदैव अपने जलते हुए सत्य से जला डालो। क्योंकि ऋषियों ने कहा है :—

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

अर्थात् सत्य की ही विजय सदैव होगी। मिथ्या की नहीं। सत्य के ही मार्ग से परमात्मा मिलेगा। सब प्रकार के कल्याण का ज्ञान सत्य से ही होगा। हमारे पूर्वज ऋषिमुनि लोगों ने सत्य का ही मार्ग स्वीकार किया था था; और उनमें यह शक्ति हो गई थी कि, जिसके लिए वे जो बात कह देते थे, उसके लिये वही हो जाता था। चाहे जिसको शाप दे देते, चाहे जिसको वरदान दे देते। यह सत्य-साधना का ही बल था। वे अन्यथा वाणी का उपयोग कभी नहीं करते थे, न कोई अन्यथा बात मन में लाते थे; और न कोई अन्यथा कार्य करते थे। वास्तव में मनुष्य का धर्माधर्म सत्य पर ही निर्भर है। एक सत्य का बर्ताव कर लिया, इसी से सब आ गया। फिर कोई उसके अलग धर्म करने की जरूरत ही नहीं रह जाती। क्यों कि कहा :—

सत्यं धर्मस्तपोयोगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

अर्थात् धर्म, तप, योग, परब्रह्म, इत्यादि जितना कुछ

कल्याण स्वरूप है, वह सत्य ही है। सत्य में सब आ जाता है। इसलिये सदैव आत्मा के अनुकूल आचरण करो। ऐसा न करो कि मन में कुछ और हो, वचन से कुछ और कहो; और करो कुछ और! मन, वाणी और कर्म, तीनों में एकता रखो। यही सत्य है। इसी से तुम्हारा हित होगा; और इसी से तुम संसार का हित कर सकोगे। आइये पाठक, हम सब मिल कर उस सत्यस्वरूप परमात्मा की स्तुति करें, उसी की शरण में चलें जिससे वह हमारे हृदय में ऐसा बल देवे कि हम सत्य की रक्षा और असत्य का दमन कर सकें :—

सत्यव्रतं, सत्यपरं त्रिसत्यं,
सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।
सत्यस्य सत्यं ऋतसत्यनेत्रम्,
सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥

हे सत्यव्रत, हे सत्य से भी श्रेष्ठ, हे तीनों लोक और तीनों काल में सत्यस्वरूप, हे सत्य के उत्पत्तिस्थान, हे सत्य में रहनेवाले, हे सत्य के भी सत्य, हे कल्याणकारी सत्य के मार्ग से ले चलनेवाले, सत्य की आत्मा हम आपकी शरण आये हैं।



१०—अक्रोध

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर ये छै मन के विकार हैं, जो मनुष्य के शत्रु माने गये हैं। इन छै विकारों को जिसने जीत लिया, उसने मानों अपने-आप को जीत लिया। यही छै विकार मन के अन्दर ऐसे बसते हैं कि जिनके कारण मनुष्य आप ही अपना दुश्मन हो जाता है; और यदि इनको जीतकर अपने वश में कर लिया जाय, तो मनुष्य आप ही अपना मित्र है।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥

गीता, अ० ६

जिसने अपने-आप को, अपने आप के द्वारा, जीत लिया है, अर्थात् उपर्युक्त छओं मनोविकारों को अपने वश में कर लिया है, उसका आत्मा उसका मित्र है—अर्थात् इन छओं मनोविकारों को अपने वश में रखकर वह इनसे अपना कल्याण कर सकता है; और जिसने इनको अपने-आप वश में नहीं किया है, उसके लिये ये शत्रु तो बने-बनाये हैं। इनके वश में होकर रहने वाला मनुष्य आप ही अपना घात करने के लिये काफी है। उसके लिए किसी बाहरी शत्रु की आवश्यकता नहीं।

इनमें प्रथम दो विकार, काम और क्रोध सब से अधिक प्रबल हैं; क्योंकि इन्हीं से अन्य सब विकार पैदा होते हैं। इन दोनों के विषय में श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं:—

काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥

गीता, अ० ३

अर्थात् यह काम और यह क्रोध, जो मनुष्य के रजोगुण अर्थात् अज्ञानमूलक स्वार्थ से पैदा होता है, बड़ा भारी भक्षक, पापी, राक्षस है। इस संसार में मनुष्य का यह भारी दुश्मन है। यह किस प्रकार पैदा होता है; और फिर किस प्रकार मनुष्य का नाश करता है, इसका भी क्रम जानने योग्य है :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥

गीता, अ० २

मनुष्य पहले विषयों का चिन्तन करता है। विषयों के चिन्तन से फिर उन विषयों में प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति उत्पन्न होने से फिर उनको पाने की इच्छा उत्पन्न होती है। पाने की इच्छा उत्पन्न होने के बाद जब इच्छापूर्ति नहीं होती, तब क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अविवेक होता है, अर्थात् क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, यह विचार-शक्ति नहीं रहती। जब विचार-शक्ति नहीं रहती; तब वह अपने-आपको भूल जाता है; और जब वह अपने आपको भूल गया, तब उसकी बुद्धि अर्थात् भले-बुरे का विचार करके किसी निर्णय तक पहुँचने की शक्ति भी नष्ट हो जाती है; और जहाँ यह शक्ति नष्ट हुई कि, मनुष्य का सर्वनाश हो जाता है।

इसलिए काम से उत्पन्न होने वाला क्रोध, जो सब पापों का मूल है, उनको वश में करके मनुष्य को अक्रोध बनना चाहिए। अक्रोध का यह मतलब नहीं है कि क्रोध का कोई भी अंश मनुष्य के अन्दर न रहे। बल्कि इसका इतना ही मतलब है कि, ऐसे

क्रोध को धारण न करो कि जिससे स्वयं अपनी अथवा दूसरे की हानि हो। हाँ, विवेक के साथ क्रोध करने से हानि नहीं हो सकती। क्रोध के साथ यदि विवेक शामिल होता है, तो वह क्रोध तेज के रूप में परिवर्तित हो जाता है। महाभारत में कहा है :—

यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबोधते।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यते तत्वदर्शिनः॥

महाभारत, वनपर्व

क्रोध उत्पन्न होने पर जो मनुष्य विवेक के द्वारा उसको अपने अन्दर ही रोक लेता है, उसको विद्वान् तत्वदर्शी पुरुष तेजस्वी कहते हैं, और इस तेजस्विता की मनुष्य के लिये बड़ी जरूरत है। तेजस्वी मनुष्य अन्दर से कोमल रहता है, परन्तु ऊपर से कठोरता धारण करता है। दुष्टों का दमन करने और पीड़ितों को अत्याचार से छुड़ाने के लिये तेजस्विता दिखानी पड़ती है। तेजस्विता ही शूरता और निर्भयता की जननी है। तेजस्वी पुरुष की बुद्धि सदैव निर्मल रहती है। वह क्रोध करता है; परन्तु क्रोध के कारण उसके हाथ से कोई अनर्थ अथवा पाप नहीं होने पाता। इसी लिये कहा है कि—

क्रोधेऽपि निर्मलधियां रमणीयतास्ति।

अर्थात् जिसकी बुद्धि पापरहित है, उसके क्रोध में भी एक प्रकार का सौन्दर्य रहता है। साधु पुरुषों के क्रोध से भी कल्याण होता है। वे जिसके ऊपर क्रोध करते हैं, उसका भला होता है। सर्वसाधारण लोगों को चाहिये कि, छोटी-छोटी बातों पर पर अथवा बिना कारण, क्रोध करने की आदत न डालें। यदि किसी कारणवश क्रोध आ जावे, तो उसको साधने का प्रयत्न करें, और यदि क्रोध करने की आवश्यकता ही मालूम हो, तो

अपने आपे में रहकर तात्कालिक थोड़ा-सा क्रोध दिखलाकर फिर तुरन्त शान्ति धारण कर ले। दूसरा यदि क्रोध करता हो तो कभी उसके बदले में क्रोध न करना चाहिए। बल्कि ऐसे मौके पर स्वयं पूर्ण शान्ति धारण करके उसके क्रोध को शान्त करना चाहिए :—

अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।
महाभारत, उद्योगपर्व।

अक्रोध अर्थात् शान्ति से क्रोध को जीते; और दुष्टता को सज्जनता से जीते। व्यर्थ क्रोध करने से अपना ही हृदय जलता है, दूसरे को कोई हानि नहीं होती। क्रोध में आकर जब मनुष्य अपने आपे से बाहर हो जाता है, तब अपने बड़े-बड़े प्रियजनों की भी हत्या कर डालता है; और जब कभी वही क्रोध घोर दुःख और पश्चात्ताप के रूप में परिवर्तित हो जाता है, तब मनुष्य आत्महत्या करने में भी नहीं चूकता। किसी कवि ने कहा है:—

क्रोधस्य कालकूटस्य विद्यते महदन्तरम्।
स्वाश्रयं दहति क्रोधः कालकूटो न चाश्रयम्।

अर्थात् क्रोध और कालकूट जहर में एक बड़ा भारी अन्तर है—क्रोध जिसके पास रहता है, उसी को जलाता है; परन्तु जहर जिसके पास रहता है, उसको कोई हानि नहीं पहुँचाता।

क्रोध से दुर्बलता आती है। शान्ति से बल बढ़ता है। इस लिए काम-क्रोधादि सब दुष्ट मनोविकारों को अपने अन्दर ही मारकर शान्ति धारण करना चाहिये। शान्ति से चित्त प्रसन्न रहता है, मन और शरीर का सौन्दर्य बढ़ता है। जिसके हृदय में सदैव शान्ति रहती है, उसके चेहरे पर भी शान्ति विराजती है। उसके प्रफुल्ल और प्रसन्न वदन को देखकर देखने—

वाले को आनन्द प्राप्त होता है। इसके विरुद्ध जिसके मनमें सदैव क्रूरता और क्रोध के भाव उठते रहते हैं, उसका चेहरा विकृत और बदसूरत हो जाता है। ऐसे मनुष्य को देखकर घृणा होती है। इसलिए मन, वचन और कर्म तीनों में मधुरता और शान्ति धारण करने से मनुष्य स्वयं सुखी रहता है; और संसार को भी उससे सुख होता है। वेद में कहा है :—

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वादामि मधुमद् भूयासं मधुसन्दृशः॥

अर्थात् हमारा आचरण मधुरतापूर्ण हो, हम जिस कार्य में तत्पर हों, वह मधुरतापूर्ण हो हम मधुर वाणी बोलें, हमारा सब कुछ मधुमयी हो।

अथर्ववेद

धर्मग्रन्थ

वेद

हिन्दुओं का मूल ग्रंथ वेद है। यह सृष्टि के आदि में परमात्मा ने उत्पन्न किया। वेद-ग्रन्थ चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद, और (४) अथर्ववेद। चारों वेद परमात्मा से ही सृष्टि की आदि में उत्पन्न हुए। इस विषय में ऋग्वेद में ही उल्लेख है :—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि यज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—ऋग्वेद

अर्थात् उस परम पूज्य यज्ञस्वरूप परमात्मा से ही ऋक्, साम, छन्द, (अथर्व) और यजुर्वेद उत्पन्न हुए। अब प्रश्न यह है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने वेदों के मन्त्र कैसे उत्पन्न किये। बृहदारण्यक उपनिषद् में लिखा है :—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदोयजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः

बृहदारण्यक

उस महाभूत परमात्मा के निःश्वास से चारों वेद निकले। क्या परमात्मा ने श्वास छोड़ा था? हाँ! किस प्रकार? उसका ज्ञान ही उसका श्वास है। यह श्वास उसने सृष्टि के आदि में चार ऋषियों के हृदय में छोड़ा था। ये चार ऋषि पहले-पहल सृष्टि में उत्पन्न हुए। उन्हीं चार ऋषियों के द्वारा वेद प्रकट हुए। शतपथ ब्राह्मण में लिखा है :—

अग्नेऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः।

शतपथ ब्रा०

अर्थात् अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा ऋषि के हृदय में परमात्मा ने पहले-पहल क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद का ज्ञान प्रकाशित किया। अपने हृदय में इन चारों ऋषियों ने परमात्मा का ज्ञान सुना; और इसी लिए वेदों का नाम 'श्रुति' पड़ा।

वेदों में ही परमात्मा ने अखिल मानवजाति के लिए धर्म का ज्ञान दिया है। फिर वेदों से ही अन्य सब ग्रन्थों में ज्ञान का विकास हुआ है। अर्थात् संसार के अन्य सब ग्रन्थ वेदों के बाद रचे गये हैं; और उन सब में वेदों के ज्ञान की ही भिन्न-भिन्न प्रकार से व्याख्या की गई है।

उपवेद

प्रत्येक वेद का एक एक उपवेद है—जैसे (१) ऋग्वेद का अर्थवेद, जिसमें विज्ञान, कला-कौशल, कृषि, वाणिज्य, इत्यादि धन उत्पन्न करने के साधनों का वर्णन है। (२) यजुर्वेद का धनुर्वेद, जिसमें राजनीति, शास्त्र-अस्त्र की कला और युद्धविद्या का वर्णन है; (३) सामवेद का गन्धर्व वेद, जिसमें संगीत-शास्त्र का वर्णन है, (४) अथर्ववेद का आयुर्वेद, जिसमें वनस्पति, रसायन और शरीरशास्त्र इत्यादि का वर्णन है।

वेदांग

वेद के छै अंग हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं:—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, ज्योतिष। ये छओं अंग भी वेद की व्याख्या करते हैं।

वेदोपांग

छै अंगों की तरह वेद के छै उपाङ्ग भी हैं। उनके नाम ये हैं:—(१) न्याय, गौतम ऋषि का बनाया हुआ; (२) वैशेषिक, कणाद ऋषि का रचा हुआ; (३) सांख्य, महर्षि कपिल का निर्मित किया हुआ है (४) योग, भगवान् पतंजलि का (५) मीमांसा महर्षि जैमिनि का; (६) वेदान्त, महर्षि बादरायण उपनाम वेदव्यास का रचा हुआ। वेद के इन्हीं छै उपाङ्गों को छै शास्त्र या षड्दर्शन भी कहते हैं। इनमें ईश्वर, जीव और सृष्टि का तत्वविचार है। सब का परस्पर सम्बन्ध और बन्ध-मोक्ष का उत्तम विचार है। यह भी सब वेद की ही व्याख्या करते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थ

वेदों की व्याख्या करने वाले कुछ ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जिनमें

ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ, ये चार मुख्य ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। इनमें क्रमशः ऋक्, यजु, साम और अथर्व के कर्मकाण्ड की प्रधानता से व्याख्या की गई है। ज्ञानकाण्ड भी है।

उपनिषद्

उपनिषद् मुख्यतया ग्यारह हैं:—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक और श्वेताश्वतर। सब उपनिषद् प्रायः वेदों के ज्ञानकाण्ड की ही, प्रधानता से, व्याख्या करते हैं।

स्मृति-ग्रन्थ

स्मृतिग्रन्थ मुख्य मुख्य अठारह हैं:—मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, विष्णु, हारीत, औशनस, आंगिरस, यम, आपस्तम्ब, शातातप, वसिष्ठ। ये अष्टादश स्मृतियां भिन्न-भिन्न ऋषियों की रची हुई उन्हीं के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये वेद के धर्माचार को अपने अपने मतानुसार, व्याख्या करती हैं। मनुस्मृति सब से प्राचीन और सर्वमान्य समझा जाता है।

पुराण

पुराण-ग्रन्थ भी मुख्यतया अठारह हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—ब्राह्म, पद्म, विष्णु, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, भविष्य, ब्रह्मवैवर्त्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़ और ब्रह्माण्डपुराण। सब पुराण प्रायः व्यासजी के रचे हुए माने जाते हैं। इनमें विशेषकर इतिहास का वर्णन और देवताओं की स्तुति है। बीच बीच में वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना काण्ड की व्याख्या भी मौजूद है।

काव्य-इतिहास

हिन्दू धर्म के दो बहुत बड़े महाकाव्य हैं—रामायण और महाभारत। इनको इतिहास भी कह सकते हैं। रामायण महर्षि वाल्मीकि और महाभारत महर्षि व्यास का रचा हुआ है। पहले काव्य में मर्यादा-पुरुषोत्तम महाराजा रामचन्द्रजी का आदर्श चरित्र वर्णन किया गया है; और दूसरे में विशेष कर कौरवों पाण्डवों के युद्ध की कथा है। इसके अतिरिक्त उसमें और भी बहुत सा ऐतिहासिक वर्णन तथा सैकड़ों आख्यान दिये गये हैं। हिन्दू धर्म का छोटा, परन्तु अत्यन्त महत्वपूर्ण धर्म-ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता भी महाभारत के ही अन्तर्गत है। यह महायोगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान् का अर्जुन को बतलाया हुआ ज्ञान-ग्रन्थ है। महाभारत हिन्दुओं का बड़ा भारी धार्मिक ग्रन्थ है। यहाँ तक कि इसको पाँचवाँ वेद भी कहा गया है। इस ग्रन्थ में नीति और धर्म के सब तत्व बड़ी ही सरलता के साथ अनेक प्रसंगों के निमित्त से, बतला दिये हैं। एक विद्वान् ने कहा है:—

भारते सर्व वेदार्थो भारतार्थश्च कृत्स्नशः।
गीतायामस्ति तेनेयं सर्वशास्त्रमयी मता॥

महाभारत में वेदों का सारा अर्थ आ गया है; और महाभारत का सम्पूर्ण सार गीता में आ गया है। इसलिये गीता सब शास्त्रों का संग्रह मानी गई है।

दूसरा खण्ड

वर्णाश्रमधर्म

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"

—गीता० अ० १८—४५।

चार वर्ण

आर्य हिन्दू धर्म में चार वर्ण पहले से ही माने गये हैं। ये वर्ण इस लिए माने गये हैं कि, जिससे चारों वर्ण अपने अपने धर्म या कर्त्तव्य का उचित रूप से पालन करते रहें। वेदों में चारों वर्णों का इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥

अर्थात् विराटरूप ईश्वर के चार अंग हैं। ब्राह्मण मुख है। राजा लोग अर्थात् क्षत्रिय भुजा हैं। वैश्य शरीर का धड़ या जंघा हैं; और शूद्र पैर हैं।

इस प्रकार से हमारे धर्म में चारों वर्णों के कर्त्तव्यो का दिग्दर्शन करा दिया गया है। मुख या शिरोभाग ज्ञानप्रधान हैं, इसीलिये ब्राह्मणों का कर्तव्य है कि वे विद्या और ज्ञान के द्वारा सब वर्णों की सेवा करें। राजा लोग, अर्थात् क्षत्रिय, बल प्रधान हैं, इसलिए उनको उचित है कि, प्रजापालन और दुष्टो का दमन करके देश की सेवा करें। वैश्य लोग धनप्रधान या व्यवसायप्रधान हैं, इसलिए उनको उचित है कि, जैसे शरीर का मध्य भाग भोजन पाकर सारे शरीर में उसका रस पहुँचा देता है, इसी प्रकार वैश्य लोग भी व्यवसाय द्वारा धन कमाकर देश की सेवा में उसको लगावें। रहे शूद्र लोग, इनका कर्त्तव्य है कि अपनी अन्य सेवाओं के द्वारा जनसमाज की सेवा करें।

अब ध्यान रखने की बात यह है कि इन चारों वर्णों में कोई छोटा अथवा बड़ा नहीं है। सब अपने अपने कर्मों में श्रेष्ठ हैं

कोई भी यदि अपने कर्म को नहीं करेगा, तो वह दोष का भागी होगा—चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र। देश या जनसमाज के लिए सब की समान ही आवश्यकता है। शरीर में से यदि कोई भी भाग न रहे, अथवा निकम्मा हो जाय, तो दूसरे का काम नहीं चल सकता। सारा शरीर ही निकम्मा हो जायगा। इसी प्रकार चारों वर्णों का भी हाल है यदि कोई कहे कि शूद्र छोटा है, तो वह इसकी बड़ी भारी भूल है। क्योंकि शरीर यदि अपने पैरों की सेवा न करे, लापरवाही से काम ले, अथवा उनको कष्ट दे, तो अपने ही पैर में कुल्हाड़ी मारने के समान होगा। देश को विद्या, बल, धन और श्रमसेवा चारों की समान ही आवश्यकता है। इन्हीं चारों की समतुल्यता और पारस्परिक आदर भाव जब से इस धर्मप्रधान देश से उठ गया तभी से यह देश पराधीन होकर पीड़ित हो रहा है। सब कष्ट में है। इसलिए चारों वर्णों को, एक दूसरे का समादर करते हुए अपने अपने धर्म या कर्त्तव्य का पालन बराबर करते रहना चाहिए; हमारे धर्मग्रन्थों में चारों वर्णों के जो कर्त्तव्य बतलाये गये हैं, वे नीचे लिखे जाते हैं:—

ब्राह्मण

मनु महराज ने ब्राह्मण का कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाया है:—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत्॥

मनुस्मृति।

स्वयं विद्या पढ़ना और दूसरे को पढ़ाना, स्वयं यज्ञ करना दूसरे को कराना, स्वयं दान लेना और दूसरे को दान देना—ये

छै कर्म ब्राह्मण के हैं। परन्तु मनुजी ने एक जगह "प्रतिग्रहः प्रत्यवरः" कहकर बतलाया है कि दान लेना यद्यपि ब्राह्मण का कर्म अवश्य है; क्योंकि और कोई दान नहीं ले सकता; परन्तु यह ब्राह्मण के सब कर्मों से नीच कर्म हैं। अर्थात् दान ले करके दान देना जरूर चाहिए अन्यथा उसका प्रायश्चित नहीं होगा; और इसी कारण दान लेने के कर्त्तव्य का नाम प्रतिग्रह रखा गया है।

श्रीमद्भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् ने ब्राह्मण के कर्त्तव्य इस प्रकार बतलाये हैं:—

"शमो दमस्तपः शौच क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥

भगवद्गीता

अर्थात् १ शम—मन से बुरे काम की इच्छा भी न करना; और उसको अधर्म प्रवृत्त न होने देना २ दम—सब इन्द्रियों को बुरे काम से रोक कर अच्छे काम में लगाना, ३ शौच—शरीर और मन को पवित्र रखना, ४ शान्ति—निन्दा स्तुति, सुख-दुख हानि लाभ, जीवन मरण, हर्ष शोक, मान-अपमान, शीत-उष्ण इत्यादि जितने द्वन्द हैं, सब में अपने मन को समतोल रखना, अर्थात् शान्ति, क्षमा, सहनशीलता धारण करना, ५ आर्जव—कोमलता, सरलता, निरभिमानता धारण करना, ६ ज्ञान—विद्या पढ़ना-पढ़ाना, और बुद्धि-विवेक धारण करना, ७ विज्ञान—जीव, ईश्वर, सृष्टि, इत्यादि का सम्बन्ध विशेष रूप से जानकर संसार के हित में इनका उपयोग करना, ८ आस्तिक्य—ईश्वर और गुरुजनों की उपासना और सेवा भक्ति करना।

ये सब ब्राह्मण के कर्त्तव्य हैं। यों तो ये सब कर्त्तव्य ऐसे हैं जिनको चारों वर्णों को, अपने अपने अनुसार, धारण करना चाहिए ; परन्तु ब्राह्मण के लिए ये तो स्वाभाविक हैं। ब्राह्मण यदि इन कर्मों से च्युत हो जाय तो शोचनीय है।

क्षत्रिय

क्षत्रिय अर्थात् राजा के कर्त्तव्य मनु महाराज ने इस प्रकार बतलाये हैं:—

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥

मनुस्मृति।

अर्थात् (१) न्याय से प्रजा की रक्षा करना, पक्षपात छोड़कर श्रेष्ठों का सत्कार और दुष्टों का तिरस्कार करना, सब प्रकार से सब का यथायोग्य पालन करना; (२) प्रजा को विद्या-दान देना-दिलाना, सुपात्रों का धन इत्यादि से सत्कार करना; (३) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना वेदादि शास्त्रों का अध्ययन करना, (४) विषयों में फँसकर सदा जितेन्द्रिय रहते हुए शरीर और आत्मा से बलवान् रहना, ये सब क्षत्रिय के कर्त्तव्य हैं।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

भगवद्गीता।

अर्थात् (१) शौर्य—सैकड़ों-हजारों शत्रुओं से भी अकेले युद्ध करने में भय न होना ; (२) तेज—तेजस्विता और दुष्टों पर आतंक रखना ; (३) धृति—साहस, दृढ़ता, और धैर्य का धारण

करना; (४) दाक्ष्य—राजनीति और शासनकार्य में दक्षता रखना ; (५) युद्ध में किसी प्रकार से भागे नहीं, जिस तरह हो, शत्रु का नाश कर; (६) विद्यादानादि से प्रजा का पालन करना; (७) सदा सर्वत्र परमात्मा को देखना; और अकारण किसी प्राणी को कष्ट न देना ।

वैश्य

वैश्य के कर्म मनु महाराज ने इस प्रकार बतलाये हैं :—

पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च

मनुस्मृति ।

अर्थात् (१) पशुरक्षा—गाय आदि पशुओं का पालन और रक्षण; (२) दान—विद्या और धर्म की वृद्धि करने के लिए धन खर्च करना; (३) अग्निहोत्रादि यज्ञ करना; (४) अध्ययन—वेदादि शास्त्रों और विज्ञानों का पढ़ना; (५) सब प्रकार से अपने देश के व्यापार की वृद्धि करना; (६) समुचित व्याज का व्यापार, अर्थात् साहूकारी या महाजनी का काम करना; (७) कृषि, अर्थात् खेती करना, हल जोतना, इत्यादि ।

श्रीमद्भगवद्गीता में भी वैश्य के कर्त्तव्य यही बतलाये गये हैं ।

शूद्र

मनु महाराज ने शूद्र का कर्तव्य इस प्रकार बतलाया है:—

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया ॥

मनु०

अर्थात् ईर्षा-द्वेष, निन्दा, अभिमान इत्यादि दोषों को छोड़कर

ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की सेवा करना ही एकमात्र शूद्र का कर्त्तव्य है।

मनुजी ने ठीक कहा है; परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि शूद्र तो हमारा दास या गुलाम है, हम चाहे जिस तरह उससे सेवा लेवें। वास्तव में सेवा-धर्म बड़ा गहन है; और सब धर्मों से पवित्र है। जिस प्रकार अन्य तीनों वर्ण अपने अपने कर्त्तव्यों में स्वतन्त्र, परन्तु जहाँ दूसरो का सम्बन्ध आता है वहाँ परतन्त्र हैं उसी प्रकार शूद्र भी अपने कर्म में स्वतन्त्र हैं। वह अपने धर्म को समझकर सेवा करेगा; और अन्य वर्णों को चाहिए कि, वे अपने धर्म को ही समझकर उससे सेवा का कार्य लेवें। परस्पर एक दूसरे का आदर करे; क्योंकि शूद्र के सेवा-धर्म पर अन्य ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य इत्यादि द्विजातियों का जीवन अवलम्बित है।

पुराणों में शूद्रों के कर्त्तव्य का और भी अधिक खुलासा किया गया है। वाराहपुराण में शूद्र का कर्तव्य इस प्रकार बतलाया है :—

शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा तया जीवनवान् भवेत्।
शिल्पैर्वा विविधैर्जीवेत् द्विजातिहितमाचरन्॥

वाराहपुराण।

अर्थात् शूद्र लोग तीनों द्विजातियो का हित करते हुए उनकी सेवा करें; और शिल्पविद्या (कारीगरी, विज्ञान) इत्यादि अनेक कर्मों से अपनी आजीविका करें। सारांश यह है कि शूद्र भी हमारे समाज का एक आवश्यक और शुद्ध अंग है। उसके साथ यदि हम आदर का वर्ताव करेंगे, तो वे भी हमारे गौरव को बढ़ाये बिना न रहेंगे।

वर्ण-भेद

अब यह देखना चाहिए कि यह वर्ण-भेद क्यों किया गया। क्या ईश्वर का यही हेतु था कि मनुष्य-जाति में फूट पड़ जाय, सब एक दूसरे से अपने को अलग समझकर—मिथ्या अभिमान में आकर—देश का सत्यानाश करें ? कृष्ण भगवान ने स्वयं गीता में कहा है :—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मा विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्

अर्थात् गुण-कर्म के विभाग से मैंने चारों वर्णों को बनाया है। यों तो मै अविनाशी हूँ, अकर्त्ता हूँ, मुझे कोई जरूरत नहीं है कि इस पाखण्ड में पड़ूँ, लेकिन फिर भी सृष्टि के काम—राष्ट्र के काम—समुचित रूप से चलते रहें, इसी कारण मुझे कर्त्ता बनना पड़ा है।

सो चारों वर्ण उस एक ही पिता के पुत्र हैं। उनमें भेद कैसा ? भविष्य पुराण में भी इसी का खुलासा किया गया है:—

चत्वार एकस्य पितुः सुताश्च।
तेषां सुताना खलु जातिरेका॥
एवं प्रजाना हि पितैक एव।
पित्रैकभावान् न च जातिभेदः॥

भविष्यपुराण

अर्थात् चारों एक ही पिता के पुत्र हैं (सब राष्ट्र के रखवाले हैं) सब पुत्र एक ही जाति के हैं। जब सब एक ही पिता के पुत्र हैं, तब उनमें जाति-भेद कैसा ?

यही बात श्रीमद्भागवत् पुराण में भी कही गई है :—

एक एव पुरा वेदः प्रणवः सर्ववाङ्मयः
देवो नारायणो नान्यः एकोऽग्निर्वर्ण एव च ॥
श्रीमद्भागवत्

अर्थात् पहले सिर्फ एक वेद था, सम्पूर्ण साहित्य सिर्फ एक प्रणव ओंकार में ही आ जाता था; सिर्फ एक नारायण ईश्वर था, एक ही अग्नि था; और एक ही वर्ण था । इसके सिवाय और कोई भेद नहीं था । मनुष्यों में राष्ट्रकार्य की सुविधा के लिए जब चार कर्मों की कल्पना हुई, तब चार वर्ण बनें । महाभारत में भी यही कहा है :—

न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत् ।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम् ॥
महाभारत ।

अर्थात् वर्णों में कोई विशेषता नहीं, सारा संसार परमात्मा का रचा हुआ है । कर्म के कारण से चार वर्णों की सृष्टि हुई है।

अब अधिक लिखना आवश्यक नहीं है । आजकल तो चार वर्ण की जगह पांच वर्ण तक हो गये हैं—और एक वर्ण अन्त्यज कहलाकर अस्पृश्य भी माना जाता है । यह बड़ा भारी पाप है । अन्य भी हजारों जातिभेद उत्पन्न हो गये हैं जिनसे राष्ट्र की एकता छिन्नभिन्न हो गई है । शत्रु इससे लाभ उठाकर हमको और हमारे धर्म को और भी बरबाद कर रहे हैं । हम पूछते हैं कि यह पंचम वर्ण, और जातियों के हजारो भेद, कहां से आये ? यह सब हमारी मूर्खता और अज्ञानता का फल है । मनुजी ने कहा है :—

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एक जातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः ॥
मनु० ।

अरे, चार तो वर्ण ही है—पाँचवाँ अपनी मूर्खता अज्ञानता से क्यों ले आये! संसार में, गोघातक को छोड़कर, और कोई भी कार्य करनेवाला मनुष्य अस्पृश्य नहीं है। शूद्र तो हमारा अङ्ग है। उसको शौच से रहना सिखलाओ, स्वयं भी धर्म के अङ्गों का धारण करो। ये आप ही धार्मिक बन जायँगे। सब मिलकर अपने देश और धर्म के हित की ओर देखो। अपनी फूट को मिटाओ। शत्रुओं को उससे लाभ उठाने का मौका न दो।

चार आश्रम

साधारण तौर पर मनुष्य की अवस्था सौ वर्ष की मानी गई है। "शतायुर्वै पुरुषः" ब्राह्मण ग्रन्थों का वचन है। महर्षियों ने इस सौ वर्ष की अवस्था को चार विभागों में विभाजित किया है। उन्हीं चार भागों को आश्रम कहते हैं। आश्रमों की आवश्यकता इस कारण से है, कि जिनसे मनुष्य अपने इस लोक और परलोक के सब कर्त्तव्यों को नियमानुसार करे—ऐसा न हो कि एक ही प्रकार के कार्य में जिन्दगी भर लगा रहे। प्रत्येक आश्रम के कर्त्तव्य २५।२५ वर्ष में बाँट दिये गये हैं। महाकवि कालिदास ने चारो आश्रमों के कर्त्तव्य, संक्षिप्त रूप से, बड़ी सुन्दरता के साथ, एक श्लोक में बतला दिये हैं :—

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

प्रथम २५ वर्ष तक शैशवावस्था रहती है। इसमें विद्याध्ययन

करना चाहिये । दूसरी यौवनावस्था है। इसमें सांसारिक विषयों का कर्त्तव्य पालन करना चाहिये । इसके बाद बुढ़ापा शुरू हो जाता है । इस अवस्था में मुनिवृत्ति से रहकर परमार्थ का मनन करना चाहिये । इसके बाद अन्त के २५ वर्षों में योगाभ्यास करके शरीर छोड़ना चाहिये । इस नियम से यदि जीवन व्यतीत किया जायगा, तो मनुष्य-जीवन के चारों पुरुषार्थ, अर्थात्, धर्म, अर्थ, काम। मोक्ष सहज में सिद्ध हो सकेंगे ।

ऋषियों ने इन चारों आश्रमों के नाम इस प्रकार रखे हैं:— (१) ब्रह्मचर्य; (२) गृहस्थ; (३) वानप्रस्थ; (४) संन्यास। अब इन चारों आश्रमों का क्रमशः संक्षेप में वर्णन किया जाता है:—

ब्रह्मचर्य

'ब्रह्म' कहते हैं विद्या या ईश्वर को । इसलिये विद्याभ्यास अथवा ईश्वर के लिए जिस व्रत का आचरण किया जाता है, उसे ब्रह्मचर्य कहते हैं । यह व्रत साधारणतया पुरुषों को २५ वर्ष की आवस्था तक और स्त्रियों को १६ वर्ष की अवस्था तक पालन करना चाहिये । यह नियम उन लोगों के लिए है, जो आगे चलकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहते हैं और जो जीवन-पर्यन्त ब्रह्मचारी रहना चाहते हैं । उनकी बात अलग है ।

ब्रह्मचर्य का खास कर्तव्य यह है कि ईश्वर भक्ति के साथ सब इन्द्रियों का संयम करके एक विद्याभ्यास में ही अपना पूरा ध्यान लगा दे । विशेषकर वीर्य की रक्षा करते हुए सब विद्याओं का अध्ययन करे । वीर्यरक्षा का महत्व अलग एक पाठ में बतलाया गया है । इसलिये यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है । यहाँ तो वास्तव में हम सिर्फ ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों का थोड़ा सा वर्णन करेंगे ।

ब्राह्मण का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तीनों वर्णों के बालकों का क्रमशः ५, ६ और ७ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार कराके वेदारम्भ करा दे; शूद्रों को भी ब्रह्मचर्य द्वारा विद्याभ्यास करावे। उत्तम ब्रह्मचर्य ४८ वर्ष की अवस्था तक का होता है। इसको धारण करने वाला आदित्य ब्रह्मचारी कहलाता है। इसके मुख पर सूर्य के समान कांति झलकती है। मध्यम ब्रह्मचर्य ४४ वर्ष की उम्र तक होता है, इसको रुद्र कहते हैं। यह ऐसा शक्तिशाली होता है, कि सज्जनों की दुष्टों से रक्षा करता है, और दुष्टों को दण्ड देकर रुलाता है। निकृष्ट ब्रह्मचर्य २५ वर्ष तक की अवस्था का कहलाता है। इसको वसु कहते हैं। इससे भी उत्तम गुणों का हृदय में वास होता है। इसलिये आजकल कम से कम २५ वर्ष की अवस्था तक पुरुषों की और १६ वर्ष की अवस्था तक स्त्रियों को अखंडवीर्य रहकर विद्याभ्यास अवश्य ही करना चाहिये। इसके बाद गृहस्थाश्रम को स्वीकार करना चाहिये।

बालक और बालिकाएँ अलग अलग अपने अपने गुरुकुलों में विद्याभ्यास करें। अर्थात् जब तक वे ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी रहें, तब तक परस्पर स्त्री-पुरुष का दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, सम्भाषण, विषय-कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान, और परस्पर संग, इन आठ प्रकार के मैथुनों का त्याग करें। स्वप्न में भी वीर्य को न गिरने दें। जब विषय का ध्यान ही न करेंगे, तो स्वप्न में भी वीर्य कैसे गिरेगा। आजकल पाठशालाओं में बालकगण हस्तक्रिया इत्यादि से वीर्य को नष्ट करके किस प्रकार अपने जीवन को बरबाद करते हैं सो बतलाने की आवश्यकता नहीं। वीर्य की रक्षा न करने से

ही हमारी सन्तान की ऐसी अधोगति हो रही है। हमारे देश से शूरता-वीरता नष्ट हो गई और सन्तान बिलकुल निर्बल तथा निकम्मी पैदा होती है। अध्यापकों और गुरुओं को चाहिए कि वे स्वयं सदाचारी ब्रह्मचारी रहकर अपने शिष्यों को विद्वान् शूरवीर और निर्भय बनावें। उनको वीर्यरक्षा का महत्व बराबर समझाते रहें। अस्तु।

ब्रह्मचाचारियों को हिये कि वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे किसी को कष्ट हो। सत्य का धारण करें। किसी की प्रिय वस्तु को लेने की इच्छा न करें। किसी से कुछ न लेवें। वीर्य की रक्षा की ओर विशेष ध्यान दें। मन और शरीर को शुद्ध रखें। सन्तोषवृत्ति धारण करें। सत्यकार्यों में कष्ट सहने की आदत डालें; बराबर पढ़ते और अपने सहपाठियों को पढ़ाते रहें। परमात्मा की भक्ति अपने हृदय से कभी न टलने दें। गुरु पर पूर्ण श्रद्धा रखें। वृद्धों की सेवा अवश्य करते रहें। परस्पर मधुर भाषण करें। एक दूसरे का हित चाहते रहें विद्यार्थी को सब प्रकार के सुख त्याग देने चाहिएँ। विदुरनीति में कहा है :—

सुखार्थिनः कुतो विद्या कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।
सुखार्थी वा त्यजेद्विद्या विद्यार्थी वा त्यजेत्सुखम्॥

विदुरनीति

अर्थात् सुख चाहनेवाले को विद्या कहाँ; और विद्या चाहनेवाले को सुख कहाँ? (दोनों में बड़ा भेद है) इसलिये जो सुख की परवा करे, तो विद्या पढ़ना छोड़ दे; और यदि विद्या पढ़ने की चाह हो तो सुख को छोड़ दे।

आजकल के हमारे कालेज और स्कूलों के विद्यार्थी, जो ऐश-आराम में रहकर विद्या पढ़ते हैं, उनकी विद्या सफल

नहीं होती और न देश के लिए लाभकारी होती है, इसका कारण यही है कि उनमें कष्ट-सहिष्णुता का भाव नहीं होता, और न उनको सच्ची कार्यकारिणी विद्या ही पढ़ाई जाती है। सिर्फ़ पुस्तकी विद्या पढ़कर रोटियों की फ़िक्र में पड़ जाते हैं। ऐसी विद्या का त्याग करके प्राचीन ऋषिमुनियों के उपदेश के अनुसार सच्ची विद्या का अभ्यास करना चाहिये। मनुजी ने ब्रह्मचारी के लिए निम्नलिखित नियमों के पालन करने का उपदेश दिया है :—

वर्जयेन्मधुमांसञ्च, गन्धं माल्यं रसान् स्त्रियः।
शुक्तानि यानि सर्वाणि प्राणिनां चैव हिंसनम्॥
अभ्यंगमंजनं चाक्ष्णोरुपानच्छत्रधारणम्।
कामं क्रोधं च लोभं च नर्तनं गीतवादनम्॥
द्यूतं च जनवादं च परिवादं तथाऽनृतम्।
स्त्रीणां च प्रेक्षणालम्भमुपघातं परस्य च॥
एकः शयीत सर्वत्र न रेतः स्कन्दयेत्क्वचित्।
कामाद्धि स्कन्दयन्रेतो हिनस्ति व्रतमात्मनः॥

मनु०।

मद्य, मांस, इतर-फुलेल, माला, रस-स्वाद, स्त्री-संग, सब प्रकार की खटाई, प्राणियों को कष्ट देना, अंगों का मर्दन, बिना निमित्त उपस्थेन्द्रिय का स्पर्श, आंखों में अंजन, जूते और छाते का धारण; काम, क्रोध, लोभ, नाच, गाना, बजाना, जुआ, दूसरे की बात कहना, किसी की निन्दा, मिथ्याभाषण, स्त्रियों की ओर देखना, किसी का आश्रय चाहना, दूसरे की हानि इत्यादि कुकर्मों को ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी सदैव त्यागे रहें। सदा अकेले सोवें। कभी वीर्य को स्खलित न करें। यदि वे कभी जान-

बूझकर वीर्य को स्खलित कर दें, तो मानो ब्रह्मचर्यव्रत का सत्यानाश करेंगे।

महर्षि मनु की विद्यार्थियों के लिए अमूल्य शिक्षा है। इसी प्रकार के नियमों का पालन कर के जो स्त्री और पुरुष विद्याभ्यास करते हैं, वे विद्वान् शूरवीर, देशभक्त और परोपकारी बनकर अपना मनुष्य-जीवन सार्थक करते हैं।

तैत्तरीय उपनिषद् में गुरु के लिए भी लिखा हुआ है कि वह अपने शिष्यों को किस प्रकार का उपदेश करे। उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

गुरु अपने शिष्यों और शिष्याओं को इस प्रकार का उपदेश करे :—

तुम सदा सत्य बोलो। धर्म पर चलो। पढ़ने-पढ़ाने में कभी आलस्य न करो। पूर्ण ब्रह्मचर्य से समस्त विद्याओं का अध्ययन कर के अपने गुरु का सत्कार करो। और फिर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके सन्तानोत्पादन अवश्य करो। सत्य में भूल न करो। धर्म में भी कभी आलस्य न करो। आरोग्यता की ओर ध्यान रखो। सावधानी कभी न छोड़ो। धन, धान्य इत्यादि ऐश्वर्य की वृद्धि में कभी न चूको। पढ़ने-पढ़ाने का काम कभी न छोड़ो। साधुओं, विद्वानों और गुरुजनों की सेवा में न चूको। माता, पिता, आचार्य और अतिथि की देवता के समान पूजा करो। उनको सन्तुष्ट रखो। जो अच्छे कार्य हैं उन्हीं को सदा करो। बुरे कामों को छोड़ दो। और (गुरु कहता है) हमारे भी जो सुचरित्र हैं, धर्माचरण हैं, उन्हीं का तुम ग्रहण करो; औरो का नहीं। हम लोगों में जो श्रेष्ठ विद्वान् पुरुष हैं, उन्हीं के पास बैठो उठो; और उन्हीं का विश्वास करो। दान देने में कभी न चूको।

श्रद्धा से, अश्रद्धा से, अश्रद्धा से नाम के लिए लज्जा के कारण भय के कारण अथवा प्रतिज्ञा कर ली है, इसी कारण—मतलब, जिस तरह से हो, दो—देने में कभी न चूको; यदि कभी तुम को किसी कार्य में; अथवा किसी आचरण में कोई शका हो तो विचारशील, पक्षपातरहित साधुमहात्मा, विद्वान् दयालु, धर्मात्मा पुरुषों के आचरण को देखो, और जिस प्रकार उनका बर्ताव हो, वैसा ही बर्ताव तुम भी करो। यही आदेश है। यही उपदेश है। यही वेद उपनिषद् की आज्ञा है। यही शिक्षा है। इसी को धारण कर के अपना जीवन सुधारना चाहिये।"

विद्यार्थियो और ब्रह्मचारियो के लिये इससे अधिक अमृत तुल्य शिक्षा और क्या हो सकती है। हमारे देश के बालक और युवा यदि इसी प्रकार की शिक्षा पर चल कर, २५ वर्ष की अवस्था तक, विद्याध्ययन कर के तब संसार में प्रवेश किया करें, तो देश में फिर भी पहले की भांति स्वतन्त्रता आ सकती है। क्योंकि ब्रह्मचर्य आश्रम ही अन्य आश्रमों की जड़ है; इसकी ओर ध्यान न रहने से ही अगले अन्य तीनों आश्रमों की भी दुर्दशा हो रही है।

गृहस्थ

जिस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम सब आश्रमो की जड़ है, उसी प्रकार गृहस्थाश्रम सब आश्रमो का आश्रय-स्थान है। इसी आश्रम को ऋषियो ने सब से श्रेष्ठ बतलाया है। महर्षि मनु ने इसका महत्व वर्णन करते हुए कहा है:—

यथा नदी नदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्।
तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्॥

यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्वजन्तवः ।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ॥
यस्मात्त्रयोप्याश्रमिणो दानेनान्नेन चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही ॥
स सधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षय्यमिच्छता ।
सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ॥

मनु०

अर्थात् जैसे सब नदी नद समुद्र में जाकर आश्रय पाते हैं उसी प्रकार सब आश्रमों के लोग गृहस्थ आश्रम में आकर आश्रय पाते हैं ॥१॥ जैसे वायु का आश्रय लेकर सारे प्राणी बर्तते हैं, उसी प्रकार गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रम बर्त्तते हैं ॥२॥ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी तीनों आश्रमों वाले लोगों को गृहस्थ ही अपने दान, अन्नादि से धारण करता है, इससे गृहस्थ ही सब आश्रमों में श्रेष्ठ अर्थात् धुरन्धर है ॥३॥ इसलिये जो मनुष्य मोक्ष और सांसारिक सब सुखों की इच्छा रखता हो उसको बड़े प्रयत्न के साथ गृहस्थाश्रम धारण करना चाहिए। क्योंकि यह आश्रम दुर्बलेन्द्रिय-अर्थात् कमज़ोर लोगों के धारण करने योग्य नहीं है ॥३॥

महर्षि मनु का पिछला वाक्य आजकल के लोगों को खूब समझ लेना चाहिए, क्योंकि यदि ब्रह्मचर्याश्रम का अच्छी तरह पालन नहीं किया है—अपने शरीर और मन को खूब बलवान् नहीं बनाया है; और सांसारिक व्यवहारों को समुचित रूप से चलाने का सामर्थ्य, तथा विद्याबल, नहीं प्राप्त किया है तो गृहस्थ आश्रम के धारण करने में दुर्गति ही है। ऐसी दशा में न तो शूर-वीर और बुद्धिमान सन्तान ही उत्पन्न हो सकती है; और न गृहस्थी का बोझ सम्हालकर अन्य आश्रमों की सेवा

ही की जा सकती है। कमजोर कंधे इतना भारी बोझ कैसे सम्हाल सकते हैं।

इसलिए हमारे देश के सब नवयुवक और नवयुवतियों को पहले ब्रह्मचर्याश्रम का यथाविधि पालन कर के तब विवाह करके, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना चाहिए। विवाह करते समय इस बात का ध्यान रहे कि वर-वधू का जोड़ा ठीक रहे। दोनों सद्गुणी, विद्वान्, बलवान्, ब्रह्मचारी और गृहस्थी का भार सम्हालने योग्य हों। विवाह का मतलब इन्द्रिय-सुख नहीं है; किन्तु शूरवीर और परोपकारी सन्तान उत्पन्न करके देश का उपकार करना है। इसलिए जब पति-पत्नी दोनों सुयोग्य होंगे, तभी गृहस्थाश्रम में वे स्वयं सुखी रह सकेंगे; और अपने देश का उपकार भी कर सकेंगे। महर्षि मनु ने कहा है :—

सन्तुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्य्या तथैव च।
अस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याण तत्र वैध्रुवम्॥

मनु०

अर्थात् जिस कुल में स्त्री से पुरुष और पुरुष से स्त्री सदा प्रसन्न रहती है, उसी कुल में निश्चित रूप से कल्याण रहता है। वही कुल धन-दौलत, सुख-आनन्द, यश-नाम पाता है। और जहां दोनो में कलह और विरोध रहता है, वहां दुखदरिद्रता और निन्दा निवास करती है। इसलिए विद्या, विनय शील, रूप, आयु बल, कुल, शरीर इत्यादि सब बातों का विचार कर के ब्रह्मचारिणियों का परस्पर विवाह होना चाहिए। अथर्ववेद में कहा है :—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।

अथर्व०।

अर्थात् कन्या भी यथाविधि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करके अर्थात् संयम से रह कर विद्याभ्यास करके—अपने योग्य युवा पति के साथ विवाह कर। स्त्री को सोलह वर्ष के पहले और पुरुष को पच्चीस वर्ष से पहले अपने रज और वीर्य को, किसी दशा में भी बाहर न निकलने देना चाहिए। विवाह के बाद गर्भाधान संस्कार की अवस्था यही बतलाई गई है। सुश्रुत में लिखा है:—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विपद्यते॥

अर्थात् २५ वर्ष से कम उम्रवाला पुरुष यदि सोलह वर्ष से कम उम्रवाली स्त्री में गर्भाधान करता है, तो वह गर्भ पेट में ही निरापद नहीं रहता। अर्थात् गर्भपात हो जाता है; और यदि बच्चा पैदा भी होता है, तो जल्दी मर जाता है; और यदि जिन्दा भी रहता है तो दुर्बलेन्द्रिय और पृथ्वी का भार होकर जीता है। आज-कल ब्रह्मचर्य का ठीक-ठीक पालन न होने के कारण हमारे देश की सन्तान की यही दशा हो रही है।

अस्तु। गृहस्थाश्रम में आकर मनुष्य को धर्म के साथ, अपने अपने वर्णानुसार कर्तव्य का पालन करना चाहिए। गृहस्थी में रह कर भी पुरुष को ब्रह्मचारी की ही तरह रहना चाहिए। आप कहेंगे कि गृहस्थ कैसा-ब्रह्मचारी ? इस प्रश्न का उत्तर मनु जी ने दिया है:—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया॥
निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्र तत्राश्रमे वसन्॥

मनु०, अध्याय ३

इसका सारांश यह है कि, जो पुरुष सदा अपनी ही स्त्री से प्रसन्न रहकर ऋतुगामी होता है और गर्भ रहने के बाद तथा सन्तान उत्पन्न होने पर भी बच्चा जब तक माता का स्तन-पान करता रहे तब तक स्त्री को बचाता है, और गर्भ रहने के बाद फिर स्त्री को बचाता है, वह गृहस्थ होकर भी ब्रह्मचारी ही के समान है। जितने ऋषि मुनि और महापुरुष गृहस्थाश्रमी हुए हैं, वे सब इसी प्रकार से रहते थे। पुरुषों को अपने घर में स्त्रियों के साथ कैसा बर्त्ताव करना चाहिये, इस विषय में महर्षि मनु का उपदेश अमूल्य है :—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ॥
शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् ।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सम्पदा ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥

मनु०

अर्थात् जो पिता, भाई, पति और देवर अपने कुल का सुन्दर कल्याण चाहते हों, वे अपनी लड़कियों, बहिनों, पत्नियों और भौजाइयों को सत्कारपूर्वक, भूषणादि सब प्रकार से, प्रसन्न रखें, क्योंकि जहाँ स्त्रियाँ प्रसन्न रखी जाती हैं, वहाँ देवता रमते है—सब प्रकार से सुख रहता है; और जहाँ वे प्रसन्न नहीं रखी जातीं वहां कोई काम सफल नहीं होता। जिस कुल में स्त्रियां दुखी रहती हैं, वह कुल शीघ्र ही नाश हो जाता है; और जहां वे सुखी रहती हैं, वहां सुखसम्पदा बढ़ती रहती है। इसलिए

जो लोग अपने घर का ऐश्वर्य चाहते हैं, उनको उचित है कि, वे वस्त्र-आभूषण और भोजन इत्यादि से इनको सदैव प्रसन्न रखें। तिथि त्योहार और उत्सवों पर इनका ख़ास तौर पर सत्कार किया करें।

मनुजी की इस शिक्षा को प्रत्येक मनुष्य गांठ में बांध ले, तो उसका कल्याण क्यों न हो ?

स्त्रियों का कर्तव्य भी मनुजी ने बहुत सुन्दर बतलाया है। आप कहते हैं :—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसन्न प्रमोदयेत् ।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्त्तते ॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम् ।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते ॥

मनु० ।

अर्थात् यदि स्त्री अपने पति से प्रेम न करेगी, उसको प्रसन्न न रखेगी, तो दुःख और शोक के मारे उसका मन उल्लसित न होगा; और न काम उत्पन्न होगा। (ऐसी ही दशा में पुरुषों का चित्त स्त्रियों से हट जाता है; और कोई कोई पुरुष दुराचारी भी हो जाते हैं) स्त्रियों के स्वयं प्रसन्न रहने—और सब के प्रसन्न रखने—से ही सब घर-भर प्रसन्न रहता है ; और उनकी अप्रसन्नता में सब दुःखदायक मालूम होता है। इसलिये मनु जी कहते हैं कि:—

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥

मनु०

स्त्री को सदा प्रसन्न रहना चाहिये; और घर का काम खूब दक्षतापूर्वक करना चाहिये। सब सामान, जहां का तहां सफाई

के साथ, रखना चाहिये; और खर्च हाथ सम्हालकर करना चाहिये।

स्त्रियों के बिगड़ने के छै दूषण मनुजी ने बतलाये हैं, उनसे स्त्रियों को बचना चाहिये। पुरुषों को उचित है कि इन दूषणों में अपने घर की स्त्रियों को न फंसने दें :—

पानं दुर्जनसंसर्गः पत्या च विरहोऽटनम्।
स्वप्नोऽन्यगेहवासश्च नारीसन्दूषणानि षट्॥

मनु०

अर्थात् मद्य, भङ्ग इत्यादि मादक द्रव्यों का पीना, दुष्ट पुरुषों का संग, पतिवियोग, अकेले जहां-तहां घूमते रहना तथा पराये घर में जाकर शयन करना, ये छै दूषण स्त्रियों को बिगाड़नेवाले हैं। स्त्री, और पुरुषों को भी, इनसे बचना चाहिये।

मनुष्य मात्र के धर्म-कर्त्तव्यों का ही इस पुस्तक में सर्वत्र वर्णन किया गया है। इसमें से अधिकांश गृहस्थ के लिये हैं। फिर भी "दाम्पत्यधर्म" पर एक अध्याय स्वतंत्ररूप से अन्यत्र दिया गया है। इसलिए यहां इस विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं। एक कवि ने गृहस्थाश्रम की धन्यता का वर्णन करते हुए एक श्लोक कहा है, उसको लिख देना पर्याप्त होगाः-

सानन्दं सदनं सुताश्च सुधियः कान्ता न दुर्भाषिणी।
सन्मित्रं सुधनं स्वयोषितरतिश्चाज्ञापराः सेवकाः।
आतिथ्यं शिवपूजनं प्रतिदिनं मिष्टान्नपानं गृहे।
साधोः संगमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः॥

अर्थात् आनन्दमयी घर है, पुत्र पुत्री इत्यादि बुद्धिमान् हैं, स्त्री मधुरभाषिणी है, अच्छे अच्छे मित्र हैं सुन्दर धन-दौलत है, अपनी ही स्त्री से, और अपने पुरुष से, प्रीति है, अर्थात्

स्त्री-पुरुष व्यभिचारी नहीं हैं, नौकर लोग आज्ञाकारी हैं, अतिथि अभ्यागत का नित्य सत्कार होता रहता है, परमेश्वर की भक्ति में सब लगे हैं, सुन्दर सुन्दर भोजन खाते-खिलाते हैं, साधुओं और विद्वानों का सत्संग करके सदैव उनसे सुन्दर उपदेश ग्रहण करते रहते हैं। ऐसा जो गृहस्थाश्रम है, उसको धन्य है। वही स्वर्ग है। प्रत्येक गृहस्थ को उपर्युक्त कर्तव्य पालन करके अपनी गृहस्थी को स्वर्गधाम बनाना चाहिये।

वानप्रस्थ

गृहस्थाश्रम सब आश्रमों का आश्रयदाता है, परन्तु यहीं तक मनुष्य का कर्तव्य समाप्त नहीं है। इसके बाद वानप्रस्थ और संन्यास दो आश्रम और हैं, जिनमें मनुष्य को अगले जन्म की तैयारी विशेष रूप से करनी पड़ती है। परोपकार करते हुए ईश्वर का अखण्ड चिन्तन करते रहना ही मनुष्य के उत्तरार्द्ध जीवन का कर्त्तव्य है। इसके बिना उसका जीवन सार्थक नहीं हो सकता। शतपथ ब्राह्मण में कहा है :—

ब्रह्मचर्याश्रमं समाप्य गृही भवेत्।
गृही भूत्वा वनी भवेत्।
वनी भूत्वा प्रव्रजेत्॥

शतपथ ब्राह्मण

अर्थात् ब्रह्मचर्य आश्रम को समाप्त करके गृहस्थाश्रम धारण करो, गृहस्थाश्रम का कर्तव्य करके जंगल को चले जाओ; और जंगल में बसने के बाद अन्त में परिव्राजक संन्यासी बनो। वानप्रस्थ आश्रम कब ग्रहण करना चाहिये, इस विषय में मनुजी कहते हैं :—

गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत् ॥

मनु०

अर्थात् गृहस्थ जब देखे कि हमारे बाल पक गये; और शरीर की खाल ढीली पड़ने लगी, तथा सन्तान के भी सन्तान (नाती-नातिन) हो चुकी, तब वह घर छोड़कर बन में जावे; और वहां वानप्रस्थ के नियमों से रहे। वे नियम मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं :—

संत्यज्य ग्राम्यमाहारं सर्वं चैव परिच्छदम्।
पुत्रेषु भार्यां निःक्षिप्य वनं गच्छेत्सहैव वा ॥
अग्निहोत्रं समादाय गृह्यं चाग्निपरिच्छदम्।
ग्रामादरण्यं निःसृत्य निवसेन्नियतेन्द्रियः ॥
मुन्यन्नैर्विविधैर्मेध्यैः शाकमूलफलेन वा।
एतानेव महायज्ञान्निर्वपेद्विधिपूर्वकम् ॥

मनु०

घर और गांव के सब उत्तमोत्तम भोजनों और वस्त्रों को छोड़कर, स्त्री को पुत्रों के पास रखकर, अथवा यदि सम्भव हो, तो अपने साथ लेकर वन में चला जाय। वहां अग्निहोत्र इत्यादि धर्म कर्मों को करते हुए इन्द्रियों को अपने वश में रखते हुए, निवास करे। पसाई के चावल, सामदाना, नाना प्रकार के शाक, फल, मूल, इत्यादि फलाहारी पदार्थों से पंचमहायज्ञों को करे; और यज्ञों से बचा हुआ पदार्थ स्वयं सेवन करके मुनिवृत्ति से रहे। परमात्मा का सदैव चिन्तन करता रहे।

इसके सिवाय वानप्रस्थ के और भी कुछ कर्तव्य हैं; और वे हैं परोपकार-सम्बन्धी ; क्योंकि परोपकार मनुष्य से किसी

आश्रम में भी छूटता नहीं है। महर्षि मनु कहते हैं :—

स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्याद्दान्तो मैत्रः समाहितः।
दाता नित्यमनादाता सर्वभूतानुकम्पकः॥
अप्रयत्नः सुखार्थेषु ब्रह्मचारी धराशयः।
शरणेष्वममश्चैव वृक्षमूलनिकेतनः॥

मनु०

स्वाध्याय, अर्थात् पढ़ने-पढ़ाने में सदा लगा रहता है। इन्द्रियों और मन को सब प्रकार जीतकर अपनी आत्मा को वश में कर लेता है। संसार का मित्र बन जाता है। इन्द्रियों को चारों ओर से खींच कर ईश्वर और संसार के हित में लगा देता है। विद्यादानादि से जंगल के निवासियों का हित करता है, और ग्राम के जिन लोगों से सम्पर्क रहता है, उनको भी विद्या-दानादि से लाभ पहुँचाता है। सब प्राणियो पर दया करता है अपने सुख के लिये कोई भी प्रयत्न नहीं करता। ब्रह्मचर्यव्रत का धारण करता है। अर्थात् यदि अपनी स्त्री भी साथ में रहती है, तो उससे भी कोई काम चेष्टा नहीं करता। पृथ्वी पर सोता है। किसी से मोह-ममता नहीं रखता। सब को समान दृष्टि से देखता है। वृक्ष के नीचे झोपड़ी में रहता है।

मुण्डकोपनिषद् में वानप्रस्थ आश्रम धारण करने के लिये बतलाया गया है :—

तपःश्रद्धे येह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्य्यां चरन्तः।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजः प्रयान्ति यत्राऽमृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

मुण्डकोपनिषद्।

अर्थात् जो शान्त विद्वान् लोग सत्कर्मानुष्ठान करते हुए, स्वयं कष्ट सहकर परोपकर करते हुए, भिक्षा से अपना निर्वाह करते हुए वन में रहते हैं वे निर्मल होकर, प्राण द्वार से, उस

परम पुरुष, अविनाशी परमात्मा को प्राप्त करके आनन्दित होते हैं।

आजकल प्रायाः लोग गृहस्थाश्रम में ही बेतरह फँसे हुए मृत्यु को प्राप्त होते हैं—निश्चिन्त होकर परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में अपना कुछ भी समय नहीं देते। इससे पुनर्जन्म में उनको आनन्द प्राप्त नहीं होता। इसी महर्षि ने गृहस्थ के बाद दो आश्रमों का विधान करके—आधी आयु परोपकार और ईश्वर-चिन्तन में बिताने का आदेश करके—मनुष्य की परम उन्नति का द्वार खोल दिया है। सब लोगों को इस आदेश पर चल कर लोक-परलोक सुधारना चाहिए।

संन्यास

यह मनुष्य का अन्त का आश्रम है। इसके विषय में महर्षि मनु कहते हैं:—

वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान् परिव्रजेत्॥

मनु०

अर्थात् आयु का तीसरा भाग वन में व्यतीत करने के बाद जब चतुर्थ भाग शुरू हो, तब वन को भी छोड़ देवे; और सर्वसङ्ग-परित्याग करके—यदि स्त्री साथ में हो, तो उसको भी छोड़कर—परिव्राजक बन, जावे। यों तो परिव्राजक बनने के लिए कोई समय निर्धारित नहीं है. जब पूर्ण वैराग्य प्राप्त हो जाय, तभी वह संन्यासी हो सकता है। ब्राह्मण ग्रन्थों का ऐसा ही मत है:—

अर्थात् जिस दिन वैराग्य प्राप्त हो जाय, उसी दिन—चाहे वन में चाहे घर में हो—संन्यास ले सकता है—ब्रह्मचर्य

आश्रम से ही संन्यास ले सकता है, जैसा कि स्वामी शंकराचार्य, स्वामी दयानन्द इत्यादि ने किया। परन्तु सच्चा वैराग्य होना, हर हालत में, आवश्यक है। यह नहीं कि आज-कल के बावन लाख साधु-संन्यासियों की तरह गृहस्थों का भाररूप हो जाय—उनको ठगकर बड़ी-बड़ी सम्पत्तियां एकत्र करे—भोग-विलास में पड़ा रहे. अथवा चोरी और दुराचार में पकड़ा जाय। इस प्रकार के संन्यासियों ने ही भारत का नाश कर दिया है। इनको परमात्मा प्राप्त नहीं हो सकता। कठोपनिषद् में कहा है :—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

कठ०

अर्थात् जिन्होंने दुराचार इत्यादि बुरे कर्म नहीं छोड़े हैं, जिनका मन और इन्द्रियां शान्त नहीं हुई हैं. जिनकी आत्मा ईश्वर और परोपकार में नहीं लगी है, जिनका चित्त सदा विषयों में लगा रहता है; वे संन्यास लेकर भी परमात्मा को प्राप्त नहीं कर सकते।

इस लिए संन्यासी को उचित है कि अपनी वाणी और मन को अधर्म से रोककर ज्ञान और आत्मा में लगावे; और फिर उस ज्ञान और आत्मा को एक में करके—अध्यात्मज्ञान से—उस शान्तरूप परमात्मा में स्थिर करे। यही योग है—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अर्थात् सब विषयों से चित्त को खींचकर एक परमात्मा और परोपकार में उसको स्थिर करना ही योग है। योगी और संन्यासी में कोई भेद नहीं है। गीता के छठवें अध्याय में भगवान् कृष्ण ने संन्यासी और योगी के लक्षण तथा उनके कर्तव्य, विस्तारपूर्वक बतलाए हैं। यहाँ पर विस्तार-

भय से हम विशेष नहीं लिख सकते । तथापि निम्नलिखित श्लोक से कुछ कुछ उसका आभास मिल जायगा :—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ॥
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः ॥

भगवद्गीता ।

अर्थात् कर्म-फल का आश्रय छोड़कर जो महात्मा सब धार्मिक कर्मों को बराबर करता रहता है, वही संन्यासी है; और वही योगी है । जो लोग कहते हैं कि, अब तो हम संन्यासी हो गये, अब हमको कर्त्तव्य नहीं रह गया—अग्निहोत्रादि धर्मकार्यों से अब अपने राम को क्या मतलब है ! ऐसा कहनेवाले साधु-संन्यासी भगवान् कृष्ण के उपर्युक्त कथन का मनन करें । भगवान् कहते हैं कि, परोपकारादि सब धार्मिक कार्य संन्यासी को भी करना चाहिए; परन्तु उसके फल में आसक्ति न रखना चाहिए । बिलकुल अकर्मण्य बनकर, अग्निहोत्रादि धर्म-कार्यों को छोड़कर, बैठनेवाला मनुष्य संन्यासी कदापि नहीं हो सकता ।

संन्यासी के लिए अपना कुछ नहीं रहता । सारा संसार उसको ईश्वरमय दिखलाई देता है; और वह जो कुछ करता है, ईश्वरप्रीत्यर्थ करता है । सब प्रकार की सांसारिक कामनाओं को वह छोड़ देता है । शतपथ ब्राह्मण में लिखा है :—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथभिक्षाचर्यंचरन्ति ।

शतपथ ब्राह्मण

अर्थात् संन्यासी लोग स्त्री-पुत्रादि का मोह छोड़ देते हैं, धन की उनको कोई परवा नहीं रहती, यश की उनको चाह नहीं

रहती—वे सर्वसंगपरित्याग करके, भिक्षाटन करते हुए, रातदिन मोक्ष-साधन में लगे रहते हैं।

महर्षि मनु ने भी अपनी मनुस्मृति में संन्यासी के रहन-सहन और कर्त्तव्यों का वर्णन करते हुए लिखा है :—

क्लृप्तकेशनखश्मश्रुः पात्री दण्डी कुसुम्भवान् ।
विचरेन्नियतो नित्यं सर्वभूतान्यपीडयन् ॥
क्रुद्ध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टः कुशलं वदेत् ।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत् ॥
दृष्टिपूतं न्यसेत्पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत् ।
सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत् ॥
अहिंसयेन्द्रियासङ्गै र्वैदिकैश्चैव कर्मभिः ।
तपश्चरणैश्चोग्रैस्साधयन्तीह तत्पदम् ॥
अनेन विधिना सर्वांस्त्यक्त्वा संगान् शनैःशनैः ।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते ॥

मनु०

अर्थात् केश, नख, दाढ़ी मूछ इत्यादि छेदन कराके सुन्दर पात्र और दण्ड तथा कुसुम इत्यादि से रंगे हुए वस्त्र धारण कर; और फिर सब प्राणियों को सुख देते हुए, स्वयं भी आनन्दस्वरूप होकर, विचरण किया करे। जब कहीं उपदेश अथवा संवाद इत्यादि में कोई संन्यासी पर क्रोध करे, अथवा उसकी निन्दा करे, तो संन्यासी को उचित है कि, आप स्वयं बदले में उसके ऊपर क्रोध न करे; बल्कि अत्यन्त शान्ति धारण करके उसके कल्याण का ही उपदेश करे; और एक मुख के, दो नासिका के, दो आँखों के और दो कानों के छिद्रों में बिखरी हुई—सप्तद्वारावकीर्ण—वाणी को, कभी, किसी दशा में भी, मिथ्या बोलने में न लगावे। संन्यासी जब मार्ग में चले, तब इधर-उधर न देख

कर नीचे पृथ्वी पर दृष्टि रखकर चले। सदा वस्त्र से छानकर जल पीवे। सदा सत्य से पवित्र वाणी बोले। सदा मन से विवेक करके, सत्य का ग्रहण करके और असत्य का त्याग करके आचरण करे। किसी प्राणी को कभी कष्ट न दे, न किसी की हिंसा करे, इन्द्रियों के सब विषयों को त्याग दे वेद में जो धार्मिक कर्म, विद्यादान, परोपकार, अग्निहोत्रादि बतलाये गये हैं; उनका यथाविधि आचरण करे, खूब कठोर तपश्चर्या धारण करे—अर्थात् सत्कर्मों के करने में खूब कष्ट उठावे, लेकिन दूसरे किसी को उसके कारण कष्ट न होने पावे। इस प्रकार आचरण करके संन्यासी परमपद को पा सकता है। इस प्रकार धीरे-धीरे सब संगदोषों को छोड़ हर्ष-शोक, सुख दुख हानि-लाभ, जीवनमरण, यश-अपयश, मान-अपमान, निन्दा स्तुति शीत-उष्ण भूख-प्यास इत्यादि जितने द्वन्द हैं, उनसे मुक्त होकर संन्यासी परमात्मा परब्रह्म में स्थित होता है।

संन्यासी के ऊपर भी बड़ी जिम्मेदारी है—वह स्वयं अपने लिए मोक्ष का आचरण करे; और अपने ऊपर वाले अन्य तीनों आश्रमों से भी धर्माचरण करावे सब के संशयो को दूर करे। सत्य उपदेश से सब को सन्मार्ग पर चलावे। धर्म के दश लक्षण जो मनुजी ने बतलाये हैं, और जिनका इस पुस्तक में अन्यत्र वर्णन हो चुका है; वे चारों वर्णों और चारों आश्रमों के लिए बराबर आचरणीय हैं। मनुजीने इस विषय में कहा है—

चतुर्भिरपि चैवैतैर्नित्यमाश्रमिभिर्द्विजैः।
दशलक्षणको धर्मः सेवितव्यः प्रयत्नतः॥

मनु०

अर्थात् धैर्य, क्षमा, दम अस्तेय, शौच; इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि-विवेक, विद्या, सत्य, अक्रोध, इन दस लक्षणों से पूर्ण धर्म का

आचरण, अत्यन्त प्रयत्न के साथ, चारों ही वर्णों और आश्रमों को करना चाहिए। संन्यासी का यही कर्त्तव्य है कि स्वयं अखण्ड रूप से परमात्मा में चित्त रखते हुए, सारे संसार को इस धर्म पर चलने का उपदेश करे।

पांच महायज्ञ

आर्य-हिन्दू जाति के नित्य के धार्मिक कृत्यों में पांच महायज्ञ मुख्य हैं। मनु महाराज ने अपनी स्मृति के तीसरे अध्याय में लिखा है कि प्रत्येक गृहस्थ से पांच प्रकार की हिंसाएं प्रति दिन अनायास होती रहती हैं—(१) चूल्हा (२) चक्की (३) झाडू (४) ओखली-मूसल और (५) घड़ा इत्यादि के द्वारा। सो इन पापो के प्रायश्चित के लिए महर्षियों ने पांच महायज्ञों का विधान किया है। महर्षि मनु ने लिखा है कि जो गृहस्थ पञ्च महायज्ञों का यथाशक्ति त्याग नहीं करता, वह गृह में वसता हुआ भी हिंसा के दोषों लिप्त नहीं होता। वे पांच महायज्ञ इस प्रकार हैं :—

ऋषियज्ञं देवयज्ञं भूतयज्ञं च सर्वदा ।
नृयज्ञं पितृयज्ञं यथाशक्ति न हापयेत् ॥

मनु०

अर्थात् (१) ऋषियज्ञ, (२) देवयज्ञ, (३) भूतयज्ञ, (४) नृयज्ञ (५) पितृयज्ञ, इनको यथाशक्ति छोड़ना न चाहिए। इनको महायज्ञ इसलिए कहा है कि अन्य यज्ञ तो नैमित्तिक हुआ करते हैं; परन्तु ये नित्य के कर्त्तव्य हैं; और मनुष्य के दैनिक जीवन से इनका गहरा सम्बन्ध है। ये महायज्ञ यदि नित्य विधिपूर्वक श्रद्धा के साथ किये जाते हैं तो मनुष्य का जीवन उत्तरोत्तर

उन्नत और पवित्र होता जाता है; और अन्त में वह मोक्ष का अधिकारी होता है।

(१) ऋषियज्ञ

इसको ब्रह्मयज्ञ भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत स्वाध्याय और संध्योपासन ये दो कर्म आते हैं। स्वाध्याय के दो अर्थ हैं। एक तो यह कि मनुष्य प्रातःकाल और सायंकाल प्रतिदिन कुछ धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन और मनन अवश्य करे। इससे उसके दुर्गुणों का क्षय होगा; और सद्गुणों की वृद्धि होगी। और दूसरा अर्थ "स्वाध्याय" का यह है कि मनुष्य स्वयं अपने आप का अध्ययन सायं-प्रातः अवश्य करे—अपने सद्गुणों और दुर्गुणों का मन ही मन विचार करे तथा दुर्गुणों को छोड़ने और सद्गुणों को बढ़ाने की प्रतिदिन प्रतिज्ञा और प्रयत्न करे। यह ऋषियज्ञ अथवा ब्रह्मयज्ञ का एक अङ्ग है।

दूसरा अङ्ग सन्ध्योपासन है। इसमें ईश्वर की उपासना मुख्य है। मनु महाराज सन्ध्योपासन का समय बतलाते हुए कहते हैं:—

पूर्वां संध्यांजपंस्तिष्ठेत्सावित्रीमर्कदर्शनात्।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात्॥

मनु० अ० २

अर्थात् प्रातःकाल में जब कुछ नक्षत्र शेष रह जावें, तब से लेकर सूर्यदर्शन होने तक गायत्री का जप करते हुए—अर्थ-सहित उसका मनन करते हुए—अपना आसन जमाये रहे; और इसी प्रकार सायंकाल में सूर्यास्त के समय से लेकर जब तक नक्षत्र खूब अच्छी तरह न दिखाई देने लगे, तब तक बराबर सन्ध्योपासन में बैठा रहे। सन्ध्या एकान्त में, खुली हवा में,

किसी रमणीक जगह में, जलाशय के तीर करनी चाहिए। महर्षि मनु कहते हैं कि प्रातः सन्ध्या से रात भर की, और सायंसन्ध्या से दिन भर की दुर्वासनाओं का नाश होता है।

सन्ध्या में पहले अचमन, अङ्गस्पर्श और मार्जन की क्रिया के बाद प्राणायाम किया जाता है। प्राणायाम की सब से सरल रीति यह है कि नाभि के नीचे से मूलेन्द्रिय का ऊपर की ओर संकोचन करते हुए भीतर की वायु को बलपूर्वक बाहर निकाल दे; और फिर उसको बाहर ही यथाशक्ति रोके रहे। इसके बाद फिर धीरे-धीरे वायु को भीतर लेकर ऊपर की ओर ब्रह्मरन्ध्र में उसको यथाशक्ति रोके। बाहर और भीतर वायु को रोकने का कम से कम इतना अभ्यास करना चाहिये कि संध्या का प्राणायाम-मन्त्र अन्दर ही अन्दर स्थिरता के साथ तीन तीन बार जपा जा सके। तब एक प्राणायाम होगा। इसी प्रकार के कम से कम तीन प्राणायाम तो सन्ध्या में अवश्य करना चाहिये। फिर जितने ही अधिक कर सके, उतना ही अच्छा है।

मनु महाराज लिखते हैं कि जिस प्रकार धातुओं को तपाने से उनका मैल सब बाहर निकल जाता है, उसी प्रकार प्राणायाम करने से मनुष्य की इन्द्रियों के सारे दोष दूर हो जाते हैं। आरोग्यता आयु बढ़ती है।

प्राणायाम के बाद अघमर्षण के मन्त्रों में परमात्मा की सृष्टिरचना का वर्णन है; और इस दृष्टि से पाप से निवृत्त रहने का भाव दरशाया गया है। फिर मनसा परिक्रमा और उपस्थान के मन्त्रों में हम अपने को परमात्मा के निकट होने का अनुभव करते हैं। तत्पश्चात् गायत्री मन्त्र से परमात्मा के सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और तेजस्वी होने का अनुभव करके हम

अपनी बुद्धि को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने की प्रार्थना करते हैं; और अन्त में उस सर्व-कल्याण-मूर्ति प्रभु को नमस्कार करके सन्ध्योपासन को समाप्त करते हैं।

यह संध्या का सारांश लिखा गया है। संध्योपासन-विधि की अनेक पुस्तकें छपी हैं। उनको देख कर और किसी आचार्य या गुरु के द्वारा प्राणायाम इत्यादि संध्योपासन की सम्पूर्ण विधि का यथोचित रीति से अभ्यास करना चाहिये।

चाहे हम रेल इत्यादि की यात्रा में हों, अथवा अन्य किसी स्थिति में हों; पर संध्योपासन कर्म का त्याग न करना चाहिये। जल इत्यादि के उपकरण न होने पर भी परमात्मा की उपासना ठीक समय पर अवश्य कर लेनी चाहिये। उपकरणों के अभाव में कर्म का ही त्याग कर देना उचित नहीं।

२ देवयज्ञ

इसको अग्निहोत्र भी कहते हैं। यह भी सायं-प्रातः दोनों काल में वेदमंत्रों के द्वारा किया जाता है। अग्निहोत्र से जल-वायु इत्यादि शुद्ध होता है। रोगों का नाश होता है।

३ भूतयज्ञ

इसको बलि वैश्वदेव भी कहते हैं। भोजन के पहले यह महायज्ञ किया जाता है। पहले मिष्ठान्न इत्यादि की कुछ आहुतियां अग्नि में छोड़ी जाती हैं। फिर कुत्ता, भंगी, रोगी, कोढ़ी, पापी इत्यादि तथा अन्य पशु-पक्षी कीट-पतंग इत्यादि को भोजन का भाग देकर उनको संतुष्ट किया जाता है।

४ नृयज्ञ

इसको अतिथियज्ञ भी कहते हैं। इसमें अतिथि अभ्यागत,

साधु-महात्मा, सज्जन इत्यादि को भोजन, वस्त्र, दक्षिणा इत्यादि से सन्तुष्ट करके उनके सत्संग से लाभ उठाते हैं। "अतिथि-सत्कार" नामक स्वतन्त्र प्रकरण इस पुस्तक में अन्यत्र दिया है।

५ पितृयज्ञ

माता, पिता, आचार्य इत्यादि तथा अन्य गुरुजनों की नित्य सेवा-शुश्रूषा करना, उनकी आज्ञा का पालन करना- उनके प्रिय कर्मों का आचरण करना पितृयज्ञ कहलाता है।

यही पाँच महायज्ञ है, जो गृहस्थ के लिए विशेष कर, और अन्य आश्रमवालो के लिए भी साधारण तौर पर, बतलाये गये हैं। "पंचमहायज्ञविधि" की कई पोथियां छप गई हैं, उनमें इनकी विधियाँ और मंत्र इत्यादि दिये हैं, सो देखकर अभ्यास कर लेना चाहिये।

सोलह संस्कार

किसी मामूली वस्तु पर कुछ क्रियाओं का ऐसा प्रभाव डालना कि, जिससे वह वस्तु और भी उत्तम बने, इसी को संस्कार कहते हैं। मनुष्य-जीवन को सुन्दर और उच्च बनाने के लिए हमारे पूर्वज ऋषियो ने जो रीतियाँ बतलाई हैं, उन्हीं को संस्कार कहते हैं। ये धार्मिक क्रियाएँ, मनुष्य के गर्भ में आने से लेकर मृत्यु पर्यन्त कुल सोलह हैं, और इन्हीं को हिन्दू धर्म में सोलह संस्कार कहते हैं। इन सोलह संस्कारों के करने से मनुष्य का शरीर, मन और आत्मा उच्च तथा पवित्र होता है। ये सोलह संस्कार इस प्रकार हैं :—

१ गर्भाधान—इसी को निषेक और ऋत्रेष्ठि भी कहते हैं।

इसमें माता-पिता दोनों गर्भ धारण के पहले पूर्ण ब्रह्मचर्य का व्रत रखते हैं। ऋतु-दान के कुछ दिन पहले से ऐसी ऐसी औषधियां सेवन करते हैं कि जिनसे उनका रजवीर्य पुष्ट और पवित्र होता। इसके बाद दोनों पवित्र और प्रसन्न भाव से गर्भाधान करते हैं।

२ पुंसवन—यह संस्कार गर्भ धारण के बाद तीसरे महीने में होता है। इसका तात्पर्य यह है कि, जिससे गर्भ की स्थिति ठीक ठीक रहे। इसी संस्कार के समय माता-पिता इस बात को भी दरसाते हैं कि, जब से गर्भ धारण हुआ है तब से हम दोनों ब्रह्मचर्यव्रत धारण किये हैं कि, जब तक फिर गर्भ धारण की आवश्यकता न होगी, तब तक बराबर ब्रह्मचर्य से रहेंगे। इस संस्कार के समय भी स्त्री को पुष्टिकारक और पवित्र औषधियाँ खिलाई जाती हैं।

३ सीमन्तोन्नयन—यह संस्कार गर्भ की वृद्धि के अर्थ छठे महीने में किया जाता है। इसमें ऐसे ऐसे उपाय किये जाते हैं कि, जिससे गर्भिणी का मन सुप्रसन्न रहे, उसके विचार उत्तम रहें; क्योंकि उन्हीं का असर बालक के मस्तिष्क और शरीर पर पड़ता है।

४ जातकर्म—यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने पर, नाल छेदन के पहले किया जाता है। इसमें होम-हवन, इत्यादि धर्म-कार्य किये जाते हैं; और बालक की जिह्वा पर सोने की सलाई से 'वेद' लिखा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि, तू विद्वान् बन। तेरी बुद्धि बड़ी हो।

५ नामकरण—यह संस्कार बालक के उत्पन्न होने के ग्यारहवें दिन किया जाता है। इस संस्कार के अवसर पर बालक

का नाम रखा जाता है। नाम रखने में इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि नाम सरस और सरल हो। ब्राह्मण के नाम में विद्या, क्षत्रिय के नाम में बल, वैश्य के नाम में धन और शूद्र के नाम मे सेवाभाव का बोध होना चाहिये। स्त्रियों के नाम में भी मधुरता हो; दो-तीन अक्षर से अधिक न हों, जैसे सीता, सावित्री, लीला, शीला इत्यादि।

६—निष्क्रमण—यह संस्कार बालक के चौथे महीने में किया जाता है। इसमें बालक को धर्मकृत्यों के साथ घर से निकालना प्रारम्भ किया जाता है।

७ अन्नप्राशन—यह बालक के छठे मास में किया जाता है। इस सस्कार के समय बालक को मधु और क्षीर इत्यादि दिया जाता है। इसके बाद वह अन्न-ग्रहण का अधिकारी होता है।

८ चूड़ाकर्म—इसी को मुण्डन संस्कार भी कहते हैं। यह प्रायः बालक के तीसरे वर्ष मे होता है। इसमें बालक के गर्भावस्था के बाल मूड़ दिये जाते हैं।

९ यज्ञोपवीत—इसी संस्कार को उपनयन वा व्रतबन्ध भी कहते हैं। यह संस्कार ब्राह्मण बालक का आठवें में, क्षत्रिय का ग्यारहवे वर्ष में और वैश्य का बारहवें वर्ष में होना है। इसी संस्कार के द्वारा बालक ब्रह्मचर्य का व्रत धारण कर के वेदाभ्यास का अधिकारी होता है।

१० वेदारम्भ—वेद का अध्ययन प्रारम्भ करने के पहले जो धार्मिक विधि की जाती है उसको वेदारम्भ संस्कार कहते हैं।

११ समावर्त्तन—अध्ययन समाप्त करने पर जब ब्रह्मचारी

को स्नातक पदवी दी जाती है, उस समय जो धार्मिक क्रिया होती है, उसी को समावर्त्तन कहते हैं।

१२ विवाह—सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से जब मनुष्य अपने ही समान कुलशीलवती स्त्री का पाणिग्रहण करता है, उस समय की धार्मिक विधि को विवाह-संस्कार कहते हैं।

१३ गार्हपत्य—जब मनुष्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके अपने घर में धर्मविधियों के साथ अग्नि की स्थापना करता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है; और तभी से गृहस्थ धर्म के पंचमहायज्ञ इत्यादि कर्म वह अपनी पत्नी के साथ करने लगता है।

१४ वानप्रस्थ—गृहस्थ का कर्तव्य पालन करके जब मनुष्य आयु के तीसरे भाग में धर्म और मोक्ष की साधना के लिये वन को जाता है, उस समय यह संस्कार किया जाता है।

१५ संन्यास—आयु के चौथे भाग में जब मनुष्य ईश्वर-चिन्तन करते हुए केवल मोक्ष की साधना में लगना चाहता है; और सब प्राणियों पर समदृष्टि रख कर जनहित को अपना एक मात्र उद्देश्य रखना चाहता है, तब जो विधि की जाती है, उसको संन्यास-संस्कार करते हैं।

१६ अन्त्येष्ठि—यह अन्तिम संस्कार मनुष्य के मर जाने पर किया जाता है। इसमें उसका शव एक कुण्ड में वैदिक विधि से हवन के साथ जलाया जाता है। यह अन्तिम यज्ञ है। इसीलिए इसका नाम अन्त्येष्ठि है।

उपर्युक्त सोलह मुख्य-मुख्य संस्कारों के अतिरिक्त १ कर्ण-वेध (कनछेदन) और २—केशान्त अर्थात् युवावस्था के

प्रारम्भ में दाढ़ी-मूछ इत्यादि सब बालों को मुड़वाने का भी एक संस्कार होता है। परन्तु इनकी गिनती साधारण संस्कारों में है।

प्रत्येक संस्कार के समय वेदविधि से हवन किया जाता है। गायन, वादन; इष्टमित्र और विद्वानों का सत्कार किया जाता है।

ये संस्कार कन्या और पुत्र दोनों के लिए अनिवार्य हैं। मनुष्यमात्र यदि इन संस्कारों को शास्त्र-विधि के अनुसार करने लगें, तो उनका जीवन पवित्र और उच्च बन जावे। हिन्दूजाति में जब से इन संस्कारों का लोप हो गया है, तभी से जीवन की पवित्रता भी नष्ट हो गई। संस्कारों का पुनर्जीवन प्रत्येक गृहस्थ का कर्तव्य है।

———

तीसरा खण्ड

आचार-धर्म

"आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्त स्मार्त एव च"

—मनु० अ० १—१०८।

आचार

मनुष्य के जिस व्यवहार से स्वयं उसका हित तथा संसार का उपकार होता है, उसी को आचार और उसके विरुद्ध व्यवहार को अनाचार कहते हैं। आचार को सदाचार और अनाचार को दुराचार भी कहते हैं। वेद और स्मृतियों के अनुकूल जो धर्माचरण इत्यादि व्यवहार किया जाता है, वही आचार है, और आचार ही परम धर्म है। मनुष्य चाहे जितना विद्वान् हो, चारों वेदों का सांगोपांग ज्ञाता हो; पर यदि वह आचार-भ्रष्ट है, तो उसका सब ज्ञान व्यर्थ है। यही बात मनुजी कहते हैं :—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयोगतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

मनु०

आचार-भ्रष्ट वेदज्ञाता वेद के फल को नहीं पाता। जो आचार से युक्त है, वही सम्पूर्ण फल पाता है। इसलिए मुनियों ने जब देखा कि आचार ही से धर्म की प्राप्ति है, तब उन्होंने धर्म के परम मूल आचार को ग्रहण किया। जो अपने चरित्र को सदैव धर्मानुकूल रखता है, वह सब प्रकार से सुखी होता है। इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं :—

आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

मनु०

आचार से पूर्णायु मिलती है, आचार से ही मनोवांछित सन्तान उत्पन्न होती है, आचार से ही धन सम्पत्ति मिलती

है; और आचार से सब दुर्गुण दूर हो जाते हैं। इसके विरुद्ध, जो आचार की रक्षा नहीं करते, उनकी क्या दशा होती है, सो भी मनु भगवान् के शब्दों में सुन लीजिए :—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुर्भागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥

मनु०

दुराचारी पुरुष की संसार में निन्दा होती है, वह नाना प्रकार के दुःखो का भागी होता है, निरन्तर रोग से पीड़ित रहता; और बहुत जल्द मर जाता है। इसलिये आर्यों की सन्तान को उचित है कि अपने आचार की रक्षा करे। वास्तव में आर्य शब्द का अर्थ ही यह है कि, जिसका आचार श्रेष्ठ हो और जो सदैव अकर्त्तव्य का त्याग और कर्तव्य का पालन करता हो:—

कर्त्तव्यमाचरन्कार्यमकर्त्तव्यमहनाचरन्।
तिष्ठति प्रकृताचारं स वा आर्य इति स्मृतः॥

जो कर्तव्य कार्य का आचरण करता हो और अकर्तव्य का आचरण न करता हो, तथा सदैव अपने स्वाभाविक आचार में स्थित रहता हो वही आर्य है।

अब वास्तव में प्रश्न यह है कि कर्तव्य क्या है; और अकर्तव्य क्या है; तथा आर्यों का—हिन्दुओं का—प्रकृतिसिद्ध आचरण क्या है? इस प्रश्न का उत्तर मनु महाराज देते हैं:—

वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥

मनु०

आर्यजनों के धर्म या कर्तव्य का मूल सम्पूर्ण वेद है। इसके सिवाय, वेद के जानने वाले ऋषि-मुनि लोग जो स्मृति आदि शास्त्र-लिख गये हैं उनमें भी धर्म का वर्णन है और जैसा वे

आचरण कर गये हैं, वह भी हमको कर्तव्य सिखलाते हैं फिर इसके सिवाय अन्य साधु पुरुषों का जो आचरण हम देखते हैं वह भी धर्ममूल है। इस सब के साथ ही कर्तव्याकर्तव्य की परीक्षा करने के लिए मनु जी ने एक बहुत ही उत्तम कसौटी बतलाई है; और वह है—"आत्मनस्तुष्टि"। अर्थात् जिस कर्तव्य से हमारी आत्मा सन्तुष्ट हो, मन प्रसन्न हो, वही धर्म है। अर्थात् जिस कार्य के करने में हमारी आत्मा में भय; शंका लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उत्पन्न न हों; उन्हीं कर्मों का सेवन करना उचित है। देखिये, जब कोई मनुष्य मिथ्या भाषण, चोरी व्यभिचार इत्यादि अकर्तव्य कार्यों की इच्छा करता है, तभी उसकी आत्मा में भय, शंका, लज्जा, ग्लानि इत्यादि के भाव उठते हैं; और मनुष्य की आत्मा स्वयं उसको ऐसे कर्मों के करने से रोकता है। इसलिये सज्जन पुरुषों को जब कभी कर्तव्य के विषय में सन्देह उत्पन्न होता है, तब वे अपनी आत्मा की प्रवृत्ति को देखते हैं। वे सोचते है कि, किस कार्य के करने से हमारी आत्मा को सन्तोष होगा; और ऐसा ही कार्य वे करते भी हैं। किसी कवि ने कहा है :—

सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरण-प्रवृत्तयः।

अर्थात् सन्देह उपस्थित होने पर सत्पुरुष लोग अपने अन्तःकरण की प्रवृत्तियों को ही प्रमाण मानते हैं। अन्तःकरण की स्वाभाविक प्रवृत्ति सदाचार ही है; और सदाचार से ही चित्त प्रसन्न होता है। भगवान् पतंजलि इसी चित्त प्रसन्नतारूप आचार का वर्णन इस प्रकार करते हैं :—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ —योगदर्शन

अर्थात् सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और दुष्टात्मा इन चार प्रकार

के पुरुषों में क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना से चित्त प्रसन्न होता है। संसार में चार ही प्रकार के प्राणी हैं। कोई सुखी है, कोई दुखी है, कोई धर्मात्मा है, कोई अधर्मी है। इन चारों प्रकार के लोगों से यथायोग्य व्यवहार करने से ही चित्त प्रसन्न होता है—मन को शान्ति मिलती है। जो लोग सुखी हैं उनसे प्रेम या मैत्री का बर्त्ताव करना चाहिए, जो लोग दीन-हीन, दुखी पीडित हैं उन पर दया करनी चाहिये। जो पुण्यात्मा पवित्र आचरण वाले हैं, उनको देखकर हर्षित होना चाहिये। और जो दुष्ट दुराचारी हैं, उनसे उदासीन रहना चाहिये—अर्थात् उनसे न प्रीति करे और न बैर।

इस प्रकार का व्यवहार करने से हम अपने आप को उन्नत कर सकते हैं। असद्भावनाओं का जागृति और असद्भावनाओं का त्याग करने के लिए यही सदाचार का मार्ग ऋषियों ने बताया है। जिन सज्जनों ने ऐसा आचार धारण किया है, उन्हीं को लक्ष्य करके राजर्षि भर्तृहरि कहते हैं :—

वाञ्छा सज्जनसंगमें परगुणे प्रीतिगुरौ नम्रता
विद्यायां व्यसनं स्वयोषितिरतिर्लोकापवदाद्भयम्।
भक्तिः शूलिनि शक्तिरात्मदमने संसर्गमुक्तिः खले-
ष्वेते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो नरेभ्यो नमः॥

सज्जनों के सत्संग की इच्छा, दूसरे के सद्गुणों में प्रीति, गुरुजनों के प्रति नम्रता विद्या में अभिरुचि, अपनी ही स्त्री में रति; लोकनिन्दा से भय, ईश्वर में भक्ति, आत्मदमन में शक्ति, दुष्टों के संसर्ग से मुक्ति—अर्थात् बुरी संगति से बचना—ये निर्मल गुण जिसके मन में बसते हैं, उसको हमारा नमस्कार है। वही सदाचारी पुरुष है।

ब्रह्मचर्य

ब्रह्म का अर्थ है—ईश्वर, अथवा विद्या। सो ईश्वर अथवा विद्या के लिये जो आचरण किया जाय; उसका नाम है ब्रह्म-चर्य। परन्तु ब्रह्मचर्य का साधारण अर्थ आजकल वीर्यरक्षा से लिया जाता है। इसलिये यहाँ पर हम वीर्यरक्षा का ही विचार करेंगे। विद्यार्थियों से सम्बन्ध रखनेवाले विशिष्ट ब्रह्मचर्य पर हम आश्रमधर्म में लिख चुके हैं।

वीर्यरक्षा मनुष्य का प्रधान धर्म है। मनुष्य जो कुछ भोजन करता है, उसके कई प्रकार के रस तैयार होने के बाद मुख्य धातु या वीर्य तैयार होता है। यह वीर्य शरीर का राजा है। इसी से मनुष्य की शक्ति और ओज कायम रहता है। मनुष्य के शरीर से जब ओज नष्ट हो जाता है, तब वह जीवित नहीं रहता। आयुर्वेद में इसका इस प्रकार वर्णन किया गया है :—

ओजस्तु तेजो धातूनां शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृदयस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥

अर्थात् शुक्र आदि शरीर के अन्दर जितनी धातुएँ हैं, उन सब से एक अपूर्व तेज प्रकट होता है; और उसी को ओज कहते हैं। यह यद्यपि विशेषकर हृदय में ही स्थिर रहता रहता है; परन्तु उसका प्रभाव सारे शरीर में व्याप्त रहता है, और यही शरीर की स्थिति कायम रखता है। अर्थात् इसका जब नाश हो जाता है, तब शरीर नष्ट हो जाता है।

इससे पाठकों को मालूम हो जायगा कि, मनुष्य के लिये वीर्यरक्षा की कितनी आवश्यकता है। मनुष्य यदि अपने वीर्य

को अपने शरीर के अन्दर धारण किये रहता है, तो उसकी शारीरिक उन्नति और मानसिक उन्नति बराबर होती रहती है। शरीर और मन में नवीन स्फूर्ति सदैव बनी रहती है। वीर्य रक्षा करनेवाले मनुष्य का कोई विचार निष्फल नहीं जाता। वह जो कुछ सोचता है, कर के ही छोड़ता है। आज तक जितने महापुरुष संसार में हो गये हैं, वे सब ब्रह्मचारी थे। ब्रह्मचर्य के बल पर ही उन्होंने कठोर से भी कठोर कार्य सिद्ध किये थे। यहाँ तक कि वेद में कहा है कि—

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।

अर्थात् ब्रह्मचर्य और तप के बल पर ही देवता लोग मृत्यु को जीत लेते हैं। भीष्म पितामह की कथा सब को मालूम है। ब्रह्मचर्य के बल पर ही उनको इच्छामरण की शक्ति प्राप्त थी, उन्होंने मृत्यु को जीत लिया था। बाणों के बिद्ध होने पर भी, अपनी इच्छा से, बहुत दिन तक जीवित रहे। उसी दशा में सब को धर्मोपदेश दिया; और जब उन्होंने इस संसार में रहना आवश्यक न समझा, तब स्वेच्छा से शरीर का त्याग किया। परशुराम जी, हनुमान जी, इत्यादि अनेक बालब्रह्मचारी भारतवर्ष में हो गये हैं, जो हमारे लिए ब्रह्मचर्य के आदर्श हैं, जिन्होंने भारतवर्ष को घोर निद्रा से जगाया; और उनका कोई भी उपदेश अथवा कार्य निष्फल नहीं गया। भारतवासी धीरे-धीरे उन्हीं के उपदेश पर आ रहे हैं।

आजकल प्रायः देखा जाता है कि हमारे स्कूल और कालेज के विद्यार्थी वीर्यरक्षा पर बिलकुल ध्यान नहीं देते। कई प्रकार हैं—मुष्टिमैथुन इत्यादि की कुटेव से—अपने वीर्य को नाश

किया करते हैं। हाय! उनको नहीं मालूम कि, हम अपने हाथ से अपने जीवन पर कुठाराघात कर रहे हैं। वीर्य का एक एक बूँद मनुष्य का जीवन है। कहा है कि—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

अर्थात् वीर्य का एक बूँद भी शरीर से गिरा देना मरण है और एक बूँद की भी अपने अन्दर रक्षा कर लेना जीवन है। स्वामी रामतीर्थ जी ने लिखा है कि, मनुष्य के शरीर के अन्दर दो रक्त होते हैं। एक लाल रक्त जो मामूली रक्त है; और एक सफेद रक्त जो वीर्य है। जब एक बूँद भी रक्त मनुष्य के शरीर से किसी कारण निकल जाता है, तब तो उसको बड़ा पश्चात्ताप होता है कि, हाय! इतना रक्त मेरा निकल गया। पर सफेद रक्त (वीर्य) जो शरीर का राजा है, उसको व्यर्थ ही हम जानबूझ कर, क्षणिक सुख के लिए, शरीर से निकाल दिया करते हैं। यह कितने दुःख की बात है।

आह! वीर्यक्षय से आज न जाने कितने होनहार नवयुवक अकाल ही काल के गाल में चले जा रहे हैं। आयुर्वेद में स्पष्ट लिखा हुआ है :—

आहारस्य परधाम शुक्रं तद्द्रव्यमात्मनः।
क्षये ह्यस्य बहून् रोगान् मरणं वा नियच्छति॥

अथात् मनुष्य जो प्रतिदिन नियमित आहार करता है, एक मास के बाद उसका अन्तिम रस अर्थात् वीर्य तैयार होता है—उसकी पूर्ण यत्न से रक्षा करनी चाहिए, क्योंकि उसके क्षय होने पर अनेक रोग आ घेरते हैं। यही नहीं बल्कि मनुष्य की जीवनलीला की अन्तिम यवनिका भी पतन हो जाती है। इस

लिए मनुष्य को ब्रह्मचर्य की रक्षा प्रत्येक दशा में करनी चाहिए। पतंजलि ऋषि ने अपने योगसूत्रों में लिखा है :—

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

योग०

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से बल-वीर्य की प्राप्ति होती है। वीर्य को नाश करनेवाले आठ प्रकार के मैथुन विद्वानों ने बतलाए हैं :—

दर्शनं स्पर्शनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।
विपरीतं ब्रह्मचर्यं ज्ञात्तन्न कदाचन ॥

अर्थात् दर्शन, स्पर्श, केलि, नेत्रकटाक्ष, एकान्त में भाषण, संकल्प, प्रयत्न, कार्यनिष्पत्ति ये आठ प्रकार के मैथुन (स्त्रीप्रसंग) विद्वानों ने बतलाये हैं। इनसे बचना ही ब्रह्मचर्य है, जिसको कभी छोड़ना न चाहिए। ब्रह्मचर्य छोड़ने से और क्या क्या हानि होती है; इस विषय में गौतम ऋषि का वचन लीजिए :—

आयुस्तेजो बलं वीर्यं प्रज्ञा श्रीश्च महद्यशः ।
पुण्यं च सुप्रीतिमत्त्वं च हन्यतेऽब्रह्मचर्यया ॥

अर्थात् ब्रह्मचर्य न धारण करने से आयु, बल, वीर्य बुद्धि, लक्ष्मी और तेज, महायश पुण्य, प्रेम, इत्यादि सब अच्छे अच्छे गुणों का नाश हो जाता है।

यह नहीं कि विवाह करने के पहले ही मनुष्य ब्रह्मचारी रहे, बल्कि विवाह कर लेने के बाद, अपनी स्त्री के साथ भी, ब्रह्मचारी रहना चाहिए। हम यह नहीं कहते कि, वह स्त्री का

सर्वथा त्याग कर दे; किन्तु हमारा तात्पर्य इतना ही है कि, स्त्री के रहते हुए भी उसको वीर्यरक्षा का ध्यान रखना चाहिये। स्त्री संग सिर्फ सन्तान-उत्पत्ति के लिए है। इन्द्रिय-सुख के लिए वीर्य का नाश न करना चाहिये।

रामायण के पढ़नेवालों को मालूम है कि, महाबली मेघनाद को मारने की किसी में शक्ति न थी। उस समय भगवान् रामचन्द्रजी ने कहा कि, इस महाबली राक्षस को वही मार सकेगा, जिसने बारह वर्ष अखण्ड ब्रह्मचर्य का साधन किया हो। लक्ष्मणजी श्री रामचन्द्रजी के साथ वन में बारह वर्ष से पूर्ण ब्रह्मचारी थे। इनके मन में कभी कोई अपवित्र भाव नहीं उठा था। इस लिए लक्ष्मणजी ने ब्रह्मचर्य के सहारे ही मेघनाद पर विजय प्राप्त की। इसी प्रकार महाभारत में चित्ररथ गन्धर्व के अर्जुन-द्वारा जीते जाने की कथा है। उसमें लिखा है कि, महावीर अर्जुन ने जब चित्ररथ को जीत लिया, तब चित्ररथ ने कहा :—

ब्रह्मचर्यःपरोधर्मः स चापि नियतस्त्वयि।
यस्मात्तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मिन् विजितस्त्वया॥

अर्थात् हे पार्थ, ब्रह्मचर्य ही परम धर्म है। इसका तुमने साधन किया है; और इसी कारण तुम मुझ को युद्ध में पराजित कर सके हो।

कहाँ तक कहें, ब्रह्मचर्य की जितनी महिमा कही जाय, थोड़ी है। इसलिए ब्रह्मचर्य अर्थात् वीर्य की रक्षा करके मनुष्य को अपना जीवन सफल करना चाहिये।

=

यज्ञ

संसार के हित के लिये जो आत्मत्याग किया जाता है, उसी को यज्ञ कहते हैं। हिन्दूजाति का जीवन यज्ञमय है। यज्ञ से ही इसकी उत्पत्ति होती है; और यज्ञ ही में इसकी अन्त्येष्टि होती है। यज्ञ का अर्थ जितनी पूर्णता के साथ आर्य या हिन्दू जाति ने माना है; उतना अन्य किसी जाति ने नहीं। हिन्दू-धर्म के सभी ग्रन्थों में यज्ञ का विस्तृत वर्णन है। आदि-धर्म-ग्रन्थ वेद तो बिलकुल यज्ञमय हैं। एक हिन्दू जो कुछ कर्म जीवन भर करता है, सब यज्ञ के लिए। श्रीमद्भगवद्गीता के तीसरे और चौथे अध्याय में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने यज्ञ का रहस्य अत्यन्त सुन्दरता के साथ बतलाया है। आप कहते हैं:—

यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर॥

गीता

अर्थात् यदि 'यज्ञ' के कर्म नहीं किया जायगा, केवल स्वार्थ के लिए किया जायगा, तो वही कर्म बन्धनकारक होगा। इसलिये हे अर्जुन, तुम जो कुछ कर्म करो, सब यज्ञ के लिये—अर्थात् संसार के हित के लिए—करो; और संसार से आसक्ति छोड़कर आनन्दपूर्वक आचरण करो। यज्ञ की उत्पत्ति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं:—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥

गीता

अर्थात् प्रजापति परमात्मा ने जब आदिकाल में यज्ञ के साथ ही साथ अपनी इस प्रजा को उत्पन्न किया, तब वेद-द्वारा यह कहा कि;-देखो, इस 'यज्ञ' से तुम चाहे जो उत्पन्न कर लो। यह तुम्हारी कामधेनु है। यज्ञ तुम्हारी सब मनोकामानाओं को पूर्ण करेगा। क्योंकि —

देवान् भावयताऽनेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥

गीता

इस यज्ञ ही से तुम देवताओं—सृष्टि की सम्पूर्ण कल्याणकारी शक्तियों—को प्रसन्न करो। तब वे देवता स्वाभाविक ही तुम को भी प्रसन्न करेंगे। इस प्रकार परस्पर को प्रसन्न करने से तुम सब का परम कल्याण होगा। क्योंकि—

इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः॥

गीता

वे यज्ञ से प्रसन्न किये हुये देवता लोग तुम को सब प्रकार के सुख देंगे। परन्तु उनके दिये हुए उन सुखों को यदि तुम फिर उनको अर्पित किये बिना अकेले ही अकेले भोगोगे; तो चोर बनोगे। क्योंकि यज्ञ के द्वारा देवता लोग तुम को जो सुखद पदार्थ देंगे, उनको फिर यज्ञ के द्वारा उनको अर्पित कर के तब तुम सुख-भोग करो। इस प्रकार सिलसिला सुख-भोग का लगा रहेगा। यज्ञ कर के जो सुख-भोग किया जाता है, वही कल्याणकारी है :—

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्॥

गीता

अर्थात् यज्ञ करने के बाद जो शेष रह जाता है, उसी का भोग करने से सारे पाप दूर होते हैं; किन्तु जो पापी, यज्ञ का ध्यान न रख कर, केवल अपने ही लिए भोजन बनाते हैं, वे पाप खाते हैं। बिना यज्ञ किये भोजन करना मानो पाप ही का भोजन है।

जो अन्न हम खाते हैं, वह किस प्रकार उत्पन्न होता है, इस विषय में भगवान् कृष्ण कहते हैं :—

अन्नाद्भवति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥
कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ॥
तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥

गीता

अर्थात् अन्न से ही सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न वृष्टि से उत्पन्न होता है; और वृष्टि यज्ञ से होती है। यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। कर्म वेद से उत्पन्न हुआ जानो और वेद ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार सर्वव्यापी ईश्वर सदैव यज्ञ में स्थित है। इसलिए—

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥

गीता

हे अर्जुन, परमात्मा के जारी किये हुए उपर्युक्त सिलसिले के अनुसार जो मनुष्य आचरण नहीं करता—अर्थात् यज्ञ के महत्व को समझकर जो नहीं चलता—वह पापजीवन अपनी इन्द्रियों के सुख में भूला हुआ इस संसार में व्यर्थ ही जीता है।

इससे अधिक जोरदार शब्दों में यज्ञ का महत्व और क्या बतलाया जा सकता है! परन्तु अत्यन्त दुःख की बात है कि,

हम लोगों ने यज्ञ करना छोड़ दिया है। यही नहीं, बल्कि हम में से अनेक सुशिक्षित कहलाने वाले लोग तो यज्ञ की हँसी उड़ाते हैं। भगवान श्रीकृष्ण की यह बात कि, यज्ञ से वृष्टि होती है, उनकी समझ में नहीं आती। वे लोग कहते हैं कि सूर्य की गर्मी से जो भाफ समुद्रादि जलाशयों से उठती है, उसी से बादल बन कर वृष्टि होती है। यह तो ठीक है; परन्तु फिर क्या कारण है कि किसी साल बहुत अधिक वृष्टि होती है; और किसी साल बिलकुल नहीं होती। आप कहेंगे कि, भाफ तो बराबर उठती है; परन्तु हवा बादल को कहीं का कहीं उड़ा ले जाती है; और इसी कारण कहीं वृष्टि अधिक हो जाती है; और कहीं बिलकुल नहीं होती। ठीक। परन्तु हवा ऐसा क्यों करती है? इसका कोई बुद्धि युक्त उत्तर नहीं दिया जा सकता। यही तो भेद है। प्राचीन ऋषि-मुनियों ने इस भेद का खुलासा किया है। उनका कथन है कि, यथाविधि यज्ञ हवन करने से मुख्य तो वायु की ही शुद्धि होती है; फिर पृथ्वी, जल अग्नि, वायु आकाश इत्यादि सभी भूतों पर यज्ञ का असर पड़ता है। अग्नि में घृत इत्यादि जो सुगन्धित और पुष्ट पदार्थ डाले जाते हैं, वे वायु में मिलकर सूर्य तक पहुँचते हैं, और बादलों में मिल कर जल की भी शुद्धि करते हैं। महर्षि मनु ने कहा है :—

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः॥

मनु०।

अर्थात् अग्नि में जो आहुति डाली जाती है, वह सूर्य तक पहुँचती

है; सूर्य से वृष्टि होती है, वृष्टि से अन्न होता है; और अन्न से प्रजा।

इसके सिवाय वायु की शुद्धि से रोग भी नहीं होते। जब से हमारे देश में यज्ञ बन्द हो गये; और इधर पश्चिमी कल-कारखानों और रेल के कारण वायु और भी अधिक दूषित हो गई, तभी से इस देश में नाना प्रकार के रोग फैल गये। रोग-निवृत्ति के लिए तो अब भी ग्रामीण लोग हवन, इत्यादि किया करते हैं; और प्रायः उससे लाभ ही हुआ करता है। इससे अनुमान कर लेना चाहिये कि, जिस समय भारवर्ष में बड़े बड़े यज्ञ होते थे, उस समय इस देश में आरोग्यता और सुख समृद्धि कितनी होगी। भविष्य पुराण में लिखा है :—

ग्रामे ग्रामे स्थितो देवः देशे देशे स्थितो मखः।
गेहे गेहे स्थितं द्रव्यं धर्मश्चैव जने जने॥

-भविष्यपुराण

अर्थात् गांव गांव में देवता स्थिर हैं, देश देश में, भारत के प्रत्येक प्रान्त में, यज्ञ होते रहते हैं; घर घर में द्रव्य मौजूद है, अर्थात् कोई दरिद्री नहीं है; और प्रत्येक मनुष्य में धर्म मौजूद है।

कुछ मूर्ख लोग कहा करते हैं कि, देश की इस दरिद्रावस्था में घृत, मेवा, ओषधि तथा सुन्दर सुन्दर अन्न खीर, हलुवा इत्यादि अग्नि में फूंक देना मूर्खता है। इन पदार्थों को स्वयं यदि खायें, तो मोटे-ताजे और पुष्ट होंगे। इसी स्वार्थभाव ने इस देश का सत्यनाश किया है। ये मूर्ख नहीं जानते कि यज्ञ जनता के हित के लिए, स्वार्थत्याग करने के हेतु से ही, होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में लिखा है :—

यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते ।

—ऐतरेय ब्राह्मण

अर्थात् यज्ञकार्य परोपकार और जनता के हित के लिए ही होता है। हमारा निज का हित भी उससे अलग नहीं है। यही बात कृष्ण भगवान् ने भी कही है। फिर जो पदार्थ हम हवन करते हैं, वे कहीं नष्ट होकर लोप नहीं हो जाते हैं। जल, वायु और अन्न के द्वारा हमारे ही उपयोग में आते हैं। मूर्ख लोग समझते हैं कि, इनका नाश हो जाता है; पर वास्तव में जो पदार्थ है, उसका नाश तो हो ही नहीं सकता है; और जो नहीं है; वह हो नहीं सकता। गीता में ही कहा है :—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ॥

भगवद्गीता

अर्थात् जो चीज है ही नहीं उसका भाव कहाँ से हो सकता है, जो है, उसका अभाव नहीं हो सकता। दोनों का भेद तत्वदर्शी लोग जानते हैं। मूर्ख क्या जानें। अस्तु।

यज्ञ दो प्रकार होते हैं। एक तो, नैमित्तिक यज्ञ, जो किसी निमित्त से किए जाते हैं; जैसे वाजपेय, अश्वमेध, राजसूय, इत्यादि, और दूसरे नित्य के यज्ञ, जो प्रत्येक मनुष्य को करना चाहिए; और जिनको पञ्चमहायज्ञ कहते हैं। इनका वर्णन इस पुस्तक में अन्यत्र दिया हुआ है।

पञ्चमहायज्ञ के अतिरिक्त पक्षयज्ञ प्रत्येक पौर्णमासी और अमावस्या को किया जाता है। नवशस्येष्टि नवीन अन्नों के आने पर और संवत्सरेष्टि नवीन संवत् के प्रारम्भ में किया जाता है।

इसी प्रकार यज्ञ की प्रथा यदि फिर हमारे देश में चल जायेगी, तो अतिवृष्टि, अनावृष्टि और बहुत से रोग दोष दूर हो जायँगे; परन्तु साथ ही, अंग्रेज़ी राज्य में, वायु को दूषित करने वाले जो कारण यहाँ पर उपस्थित हो गए हैं उनका भी दूर होना आवश्यक है।

दान

हिन्दू धर्म में दान का बड़ा भारी महत्व प्राचीन काल से ही चला आता है। यहाँ पर हरिश्चन्द, बलि और कर्ण के समान दानी हो गए हैं, जिन्होंने अपना सर्वस्व दान करके ऐसे-ऐसे कष्ट भोगे, जिनका ठिकाना नहीं। हमारे धर्मग्रन्थों में दान का माहात्म्य जगह-जगह वर्णन किया गया है; और यह भी बतलाया गया है कि, दानधर्म करने की सच्ची प्रणाली कौन सी है। उपनिषदों में कहा है :—

श्रद्धया देयम्। अश्रद्धया देयम्। श्रिया देयम्। ह्रिया देयम्। भिया देयम्। संविदा देयम्।

तैत्तिरीय उपनिषत्

अर्थात् श्रद्धा से दो, अश्रद्धा से दो। सम्पन्न होकर भी दो। लोकलज्जावश दो। भय से दो। प्रतिज्ञावश दो। मतलब यह कि, किसी प्रकार हो, दान अवश्य दो। जो हमेशा लोगों को दान दिया करता है, वह सर्वप्रिय हो जाता है। उसके शत्रु भी बन जाते हैं। कहा है :—

दानेन भूतानि वशी भवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम्।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानै-
र्दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति।

अर्थात् दान से सब प्राणिमात्र वश में हो जाते हैं—यहाँ तक कि बैरी लोग बैर छोड़कर मित्र बन जाते हैं। दान से पराये लोग भी अपने भाई बन जाते हैं। दान एक ऐसा उत्तम कर्म है कि यह सब बुराईयों को दूर कर देता है। सत्य ही है, जिसको दान देने की आदत पड़ जाती है, उसको फिर अन्य कोई व्यसन सूझ ही कैसे सकता। उसका धन तो परोपकार में ही लगता है। धन दान-धर्म में लग गया, तब तो ठीक ही है। अन्यथा उसकी गति अच्छी नहीं होती। दान में न लगेगा, तो दुर्व्यसनों में जायगा, अथवा नष्ट हो जायगा। क्योंकि

दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो नददाति न भुंक्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

अर्थात् :—

धन की गति तो तीन हैं, दान भोग औ नाश।
दान भोग जो ना करै, निश्चय होय विनाश॥

परन्तु इन तीनों गतियों में दान की ही गति उत्तम है। और यदि दान श्रद्धा के साथ, प्रिय वचनों के साथ, दिया जावे, तो फिर क्या कहना है! नीति में कहा है :—

दानं प्रियवाक्सहितं ज्ञानमगर्वं क्षमान्वित शौर्यम्।
वित्तं त्यागनियुक्तं दुर्लभमेतच्चतुष्टयं लोके॥

अर्थात् प्रिय वचनों के साथ दान, नम्रता और निरभिमानता के साथ ज्ञान, क्षमा के साथ शूरता; और त्याग के साथ धन, ये चार कल्याणकारी बातें मनुष्य में दुर्लभ हैं। क्योंकि बहुत से लोग देते हैं, तो दो-चार बातें ही सुना देते हैं। ऐसे देने से कोई लाभ नहीं। सद्भाव जब पहले ही नष्ट हो गया, तब उस

दान से क्या फल ? इसलिए दान में भी प्रिय बनना चाहिये। जो प्रिय बनता है, उनको प्रिय मिलता भी है। प्रेम का दान बहुत ही श्रेष्ठ है। ऋषियों ने कहा है :—

प्रियाणि लभते नित्य प्रियदः प्रियकृत्तथा।
प्रियो भवति भूतानामिह चैव परत्र च ।।

अर्थात् जो प्रति दिन सब को प्यार देता है; और प्यार के कार्य करता है, उसको स्वयं प्यार मिलता है। और, वह इस लोक तथा परलोक, दोनों जगह, सब प्राणियों को प्रिय होता है। इसलिए प्यार का दान सब से श्रेष्ठ है। अच्छा, अब देखना चाहिए कि, दान किस प्रकार का किया जाय। श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में दान भी तीन प्रकार का बतलाया है—सात्विक, राजस, तामस।

सात्विक दान

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्विकं स्मृतम् ।।

अर्थात् "दान देना हमारा कर्त्तव्य है"—बस, सिर्फ इस एक भावना से जो दान दिया जाता है जिसमें ऐसा कोई भाव नहीं रहता कि, आज हम इसको देते हैं, कल हमारा भी इससे कोई उपकार हो जायगा; और जो देश, काल तथा पात्र का विचार करके दान किया जाता है, वह सात्विक दान है।

आज-कल हमारे देश में दान देने की प्रथा बहुत बिगड़ रही है। ऐसा नहीं कि दान न दिया जाता हो, दान तो करोड़ों रुपयों का अब भी होता है; परन्तु उसमें देश, काल और पात्र का ध्यान नहीं रखा जाता। इससे वह दान लाभ की जगह पर

हानि करता है। जिनको दान दिया जाता है, वे भी खराब होते हैं; और देश की दशा के बिगाड़ में ही वे उस दान को खर्च करते हैं। इसलिए दानदाता को कोई अच्छा फल नहीं होता है। महाभारत में कहा है :—

अपात्रेभ्यस्तु दत्तानि दानानि सुबहून्यपि।
वृथा भवन्ति राजेन्द्र भस्मान्याज्याहुतिर्यथा॥

महाभारत

अर्थात् अपात्र को चाहे बहुत ज्यादा दान दिया जाय; पर उसका कोई फल नहीं होता—वह इस प्रकार व्यर्थ जाता है कि जैसे राख में कोई घी की आहुतियां डाले। इसलिये पात्रापात्र का विचार अवश्य करना चाहिये :—

पात्रापात्रविवेकोऽस्ति धेनुपन्नगयोर्यथा।
तृणात्संजायते क्षीरं क्षीरात्संजायते विषम्॥

पात्रापात्र का विवेक ऐसा है, जैसे गौ और सर्प का। गौ को आप घास खिलाएँगे, तो उससे दूध पैदा होगा; और साँप को आप दूध पिलायेंगे, तो उससे विष पैदा होगा। इसी प्रकार से सुपात्र को यदि आप थोड़ा-सा भी दान देंगे, तो वह आपको अच्छा फल देगा—वह अच्छे कर्मों में खर्च करेगा, इससे देश का हित होगा; और यदि आप कुपात्र को देंगे, तो वह भोगविलास, दुराचार में खर्च कर देगा, जिससे सब को हानि पहुँचेगा। अब देखना चाहिये सुपात्र का क्या लक्षण है। कैसे मालूम हो कि यह सुपात्र है। व्यासजी कहते हैं :—

न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम्॥

अर्थात् न केवल विद्या अथवा न केवल तप से ही पात्रता की परीक्षा हो सकती है; बल्कि जहाँ पर विद्या और तप दोनों

मौजूद हों, वही सुपात्र है। क्योंकि केवल विद्या होने से भी मनुष्य दुराचारी हो सकता है; और केवल तप होने से भी मनुष्य पाखण्डी हो सकता है। इसलिए जिस व्यक्ति में विद्या भी है; और तप भी है—अर्थात् जो विद्वान् और तपस्वी, सदाचारी, परोपकारी है, वही दान का पात्र है। इसके विरुद्ध मूर्ख, दुराचारी को दान देने से पाप लगता है।

अच्छा, अब देखना चाहिये, कि सात्विक दानों में श्रेष्ठ दान कौन कौन से हैं. इस विषय में भिन्न भिन्न ऋषियों के वचन देखिये :—

गोदुग्धं वाटिकापुष्पं विद्याकूपोदकं धनम् ।
दानाद्विवर्द्धते नित्यमदानाश्च विनश्यति ॥

अर्थात् गौ-भैंस का दुग्ध, वाटिका के फल-पुष्प, विद्या, कुएँ का जल, धन, इत्यादि चीजें नित्यदान देने से बढ़ती हैं; और न देने से नाश हो जाती हैं। फिर कहते हैं :—

जलाशयाश्च वृक्षाश्च विश्रामगृहमध्वनि ।
सेतुः प्रतिष्ठितो येन तेन सर्वं वशीकृतम् ॥

जो मनुष्य कुआँ, तालाब, बावड़ी इत्याति जलाशय; फल-फूल, छाया देनेवाले वृक्ष; औषधालय, धर्मशाला, इत्यादि विश्रामगृह, नदियों इत्यादि में पुल बनवाते हैं, वे मानो सारे संसार पर अपना प्रभाव स्थापित करके सब को वश में करते हैं। किस प्राणी को किस चीज का दान करके सन्तुष्ट करना चाहिये, इस विषय में देखिये :—

देयं भैषजमार्त्तस्य परिश्रान्तस्य चासनम् ।
तृषितस्य च पानीयं क्षुधितस्य च भोजनम् ॥

रोगियों की औषधि-दान द्वारा सेवा करनी चाहिये। हारे-थके को स्थान, भोजन, इत्यादि देकर सन्तुष्ट करना चाहिये;

प्यासे को पानी और भूखे को अन्न देना चाहिए। सब दानों में अन्नदान श्रेष्ठ है :—

यस्मादन्नात्प्रजाः सर्वाः कल्पे कल्पेऽसृजत्प्रभुः।
तस्मादन्नात्परं दानं न भूतं न भविष्यति ॥

परमात्मा कल्प कल्प में अन्न से ही सब प्राणियों की उत्पत्ति, पालन और रक्षण करता है; इसलिए अन्नदान से श्रेष्ठ और कोई दान न हुआ है; और न होगा। परन्तु अन्नदान से भी एक श्रेष्ठ दान है। ऋषि कहते हैं :—

अन्नदानं परं दानं विद्यादानमतः परम्।
अन्नेन क्षणिका तृप्तिर्यावज्जीवन्तु विद्यया ॥

अन्नदान निस्सन्देह श्रेष्ठ दान है; परन्तु विद्यादान उससे भी श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्नदान से तो क्षण भर के लिए ही तृप्ति होगी--फिर भूख तैयार है—परन्तु विद्यादान से जीवन भर के लिए सन्तोष हो जायगा। इसी लिए महर्षि मनु कहते हैं:—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।
तस्य देहादिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित ॥

मनु०

अर्थात् संसार में जितने दान हैं—जल, अन्न, गौ, पृथ्वी, वस्त्र, तिल, सुवर्ण घृत आदि—सब में विद्यादान श्रेष्ठ है। इस लिए तन, मन धन, सब लगा कर देश से विद्या की वृद्धि करनी चाहिए एक दान और भी श्रेष्ठ है; और वह है अभयदान। संसार में अत्याचारी लोग निर्बल और गरीब लोगों पर रात-दिन जुल्म करते रहते हैं। उन पर दया करके, अत्याचारियों से चंगुल से छुड़ाकर; उनको अभयदान देना परम पवित्र कर्त्तव्य है। इस विषय में ऋषियों ने कहा:—

अभयं सर्व भूतेभ्यो यो ददाति दयापरः।
तस्य देहादिमुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित ॥

अर्थात् जो दयालु मनुष्य सब प्राणियों को अभयदान देता है उसको कभी भी किसी से भय नहीं होता।

राजस दान

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्राजसमुदाहृतम्॥

गीता

जो उपकार का बदला पीने के लिए, फल की इच्छा से, और बड़े कष्ट से दिया जाता है, वह राजस दान है। ऐसा दान त्याज्य है।

तामस दाय

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्॥

गीता

देशकालपात्र का विचार न करके जो दान दिया जाता है, जिस दान में सत्कार नहीं है, अपमान से भरा हुआ है, वह तामस दान हैं। बहुत लोग अन्याय से दूसरों का धन हरण कर के दानपुण्य करते हैं; पर ऐसे दानपुण्य से उसको कुछ फल नहीं हो सकता। ऐसे दाता के लिए कहा है :—

अपहृत्य परस्यार्थान्यः परेभ्यः प्रयच्छति।
स दाता नरकं याति यस्यार्थास्तस्य तत्फलम्॥

अर्थात् जो दूसरे का धन हरण करके—अन्याय से धन कमाकर दानधर्म करता है, वह दाता नरक को जाता है; क्योंकि जैसी जिसकी कमाई होती है, वैसा ही उसका फल होता है।

इस लिए न्यायपूर्वक, अपने सच्चे परिश्रम से, द्रव्योपार्जन कर के सात्विक दानधर्म करना ही मनुष्य का कर्त्तव्य है।

तप

हम कह चुके हैं कि, सत्कर्मों के लिए, अर्थात् धर्माचरण के लिए, कष्ट सहना ही तप है। तप का इतना ही अर्थ नहीं कि, कड़ी धूप में बैठ कर, अपने चारों ओर से आग जलाकर, पञ्चाग्नि तापो। यह तामसी तप है। इससे कुछ भी लाभ नहीं— हाँ इतना लाभ हो सकता है कि शरीर को आंच सहने की आदत पड़ जावे। इसी तरह नाना प्रकार के कठोर व्रतों का आचरण करने से भी कोई विशेष लाभ नहीं। हाँ, यदि किसी ऊँचे उद्देश्य के पूर्ण होने में ऐसे तपों से सहायता मिलती हो; तो और बात है। अन्यथा ऐसे तपों को तामसी ही कहना चाहिए। भगवान् कृष्ण गीता में कहते हैं :—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्॥

गीता

जो लोग वेदशास्त्र की मर्यादा को छोड़ कर घोर तप में तपा करते हैं—दम्भ, अहंकार से युक्त, काम और राग के बल से शरीर को और आत्मा को व्यर्थ कष्ट देते हैं, उनको राक्षस जानो। वे तपस्वी नहीं हैं। उनके चक्कर में कोई मत आओ। सात्विक, राजस और तामस, तीनों प्रकार के तप का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं :—

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकांक्षिभिर्युक्तैः सात्विकं परिचक्षते॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।

क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम् ॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥
गीता ।

अर्थात् सज्जन पुरुष, फल की इच्छा न रखते हुए, उत्तम श्रद्धा के साथ, कायिक, वाचिक और मानसिक जो तीन प्रकार का तप करते हैं (जिसका वर्णन आगे किया गया है) उसी को सात्विक तप कहते हैं। इससे आत्मा का और लोक का, दोनों का हित होता है।

दूसरा राजस तप है। यह दम्भ से किया जाता है—अर्थात् मनुष्य ऊपर से दिखाता है कि, हम यह अच्छे कार्य में कष्ट सह रहे हैं; परन्तु अन्दर से उसका कोई स्वार्थ होता है। यह तप वह अपने सत्कार, मान अथवा पूजा के लिए करता है—वह चाहता हैं कि लोग उसको अच्छा कहें। यह तप निकृष्ट है।

तीसरा तामस तप है। किसी हठ में आकर मनुष्य अपने-आपको पीड़ा देता है, उसके मन में कोई अच्छा हेतु नहीं होता। अथवा किसी का मारण-मोहन-उच्चाटन करके के लिए तप करता है। आजकल भी लोग किसी दुश्मन को मारने के लिए, अथवा उसको हानि पहूँचाने के लिए अथवा अपना झूठा मुकदमा जीतने के लिए ही, तप या पूजा-पाठ या पुरश्चरण करते-कराते हैं। यह बिल्कुल अधम तप है।

सात्विक तप को ही ग्रहण करना चाहिए। अन्य दो प्रकार के तपों का त्याग करना चाहिए। सात्विक तप किस प्रकार किया जाय—उसके कायिक, वाचिक मानसिक तीन भेद किए गए हैं :—

शरीर का तप

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥

देवता, द्विज, गुरु, विद्वान् इत्यादि जो हमारे पूजनीय हैं, उनकी पूजा करनी चाहिए। उनको अपनी नम्रता, सुशीलता, आदर-सत्कार से सन्तुष्ट रखना ही उनकी पूजा है। शौच—यानी शरीर, वस्त्र, स्थान, मन, आत्मा, बुद्धि इत्यादि को सब प्रकार से पवित्र रखना, मन में कोई भी बुरा भाव कभी न आने देना। शरीर, वस्त्र, स्थान, इत्यादि निर्मल रखना। यही शौच है। आर्जव—नम्रता और सरलता धारण करना। छल-कपट कुटिलता, मिथ्या, दम्भ पाखण्ड, इत्यादि का त्याग, यही आर्जव है। ब्रह्मचर्य—सब इन्द्रियों का संयम करते हुए वीर्य की रक्षा करना। सदैव विद्याभ्यास करते रहना। पर-स्त्री को माता समझना। यही ब्रह्मचर्य है। अहिंसा—प्राणिमात्र का वध करना तो दूर की बात है, उनको किसी प्रकार भी कष्ट न देना। यही अहिंसा है। इन सब गुणों का अभ्यास अपने शरीर और मन से करना और इनके अभ्यास में चाहे जितना कष्ट हो, उसको सहना—यही शारीरिक तप है।

वाणी का तप

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥

ऐसी बात न बोलो, जिसको सुनकर उद्वेग पैदा हो; किसी का मन ऊब उठे। सच बोलो। जिस बात को जैसा देखा सुना हो, अथवा जैसा किया हो, अथवा जैसा तुम्हारे मन में हो, उसको वैसा ही अपनी वाणी द्वारा प्रकट करो। क्योंकि वाणी को जो कोई चुराता है वह बहुत बड़ा चोर है। महर्षि मनु ने कहा है:—

वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूलावाग्विनिःसृताः ।
तां तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥

मनुस्मृति ।

अर्थात् संसार के सारे व्यवहार वाणी पर ही निर्भर हैं, सब वाणी से ही निकले हैं; और वाणी से ही चलते हैं, इसलिए वाणी को जो मनुष्य चुराता है (मिथ्या भाषण करता है, अथवा पालिसी से गोलमाल बोलता है) वह मानो सब प्रकार की चोरी कर चुका। क्योंकि वाणी से ही जब संसार के सब व्यवहार है, तो फिर उससे अब कौन-सी चोरी बाकी रही ? झूठा अथवा पालिसीबाज मनुष्य ही सब से बड़ा चोर है।

अब इसके बाद वाणी के तप में 'प्रिय' बोलना भी है। परन्तु भगवान् 'प्रिय' के साथ 'हितं च' पद भी रखा है। इसका तात्पर्य यह है कि; वाणी प्रिय भी हो; साथ ही हितकारक भी हो, क्योकि यदि वाणी प्रिय तो हुई; परन्तु हितकारक न हुई, तो वह 'ठकुरसुहाती" या चापलूसी कहलायगी। मनुजी ने इस विषय में कहा है :—

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।
भद्रं भद्रमिति ब्रूयाद्भित्येव वा वदेत्।
शुष्कवैरं विवादं च न कुर्यात्केनचित्सह ॥

मनु०

अर्थात् सत्य बोलो; और प्रिय बोलो। अप्रिय सत्य, अर्थात् काने को काना मत कहो। प्रिय हो; परन्तु दूसरे को प्रसन्न करने के लिए, ऐसा प्रिय मत बोलो कि जो मिथ्या हो। सदा भद्र अर्थात् दूसरे के लिए हितकारी वचन बोलो। व्यर्थ को वैर न

बढ़ाओ। बिना मतलब ऐसी वाहियात बात मत करो कि किसी को बुरा मालूम हो। किसी के साथ विवाद भी न करो आनन्द के साथ संवाद करो।

परन्तु कभी-कभी ऐसा भी मौका आ जाता है कि किसी अच्छे उद्देश्य से अप्रिय सत्य भी बोलना पड़ता है। दूसरे का हित होता हो, तो अप्रिय सत्य—कड़वी सच्चाई कहने में भी विशेष हानि नहीं। परन्तु यह बड़े साहस का काम है। जिनकी आत्मा मजबूत है, वही ऐसा काम कर सकते हैं। महाभारत, उद्योगपर्व, विदुरनीति में कहा है :—

पुरुषा बहवो राजन् सततं प्रियवादिनः।
अप्रियस्य तु पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥

महाभारत

अर्थात् हे राजा धृतराष्ट्र, इस संसार में दूसरे को प्रसन्न करने के लिए निरन्तर प्रिय बोलनेवाले प्रशंसक--मिथ्या प्रशंसक यानी चाटुकार तो—बहुत हैं ; परन्तु जो सुनने में तो अप्रिय मालूम हो, किन्तु हो कल्याणकारी—ऐसा वचन कहने और सुननेवाला पुरुष दुर्लभ है।

इस लिए सज्जन और सत्यवादी पुरुष सदा खरी कहते हैं, और दूसरे से खरी सुनने की सहनशक्ति भी रखते हैं। परन्तु पीठ-पीछे दूसरे की निन्दा नहीं करते ; किन्तु उनके गुणों का ही प्रकाश करते हैं। इसके विरुद्ध जो दुर्जन होते हैं, वे मुँह पर तो चिकनी-चुपड़ी बनाकर कहते हैं ; और पीठ-पीछे उसकी बुराई करते हैं।

अस्तु। वाणी के तप में मुख्य बात यही है कि सत्य और हितकारक वचन कहे। फिर स्वाध्याय का भी अभ्यास रखे। अर्थात् ऐसे ग्रन्थों का पठन-पाठन सदैव करता रहे कि जिनसे ज्ञान, सदाचार, धर्म, ईश्वरभक्ति इत्यादि की वृद्धि हो।

यही सब वाणी का तप है।

मन का तप

मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानमुच्यते ॥

गीता

अर्थात् (१) मन को सदैव प्रसन्न रखना; किसी प्रकार का भी भीतरी अथवा बाहरी आघात मन पर हो, चाहे भीतर की कोई चिन्ता उठे, अथवा बाहर से कोई ऐसी बात हो, जिससे मन को क्लेश होनेवाला हो—प्रत्येक दशा में मन की शान्ति को स्थिर रखे। सदा ऐसा प्रसन्नचित्त रहे कि उसके प्रसन्न वदन को देखकर दूसरे को भी प्रसन्नता आ जावे। (२) सौम्यता धारण करे, जैसे चन्द्रमा शीतल और आह्लादकारक होता है, वैसी ही शीलता और आनन्दको अपने मन में धारण करने का प्रयत्न करे। (३) मौन धारण करे। मौन-धारण का सदैव यह मतलब नहीं होता कि मुँह बन्द रखे, कुछ बोले ही नहीं; किन्तु मौन का इतना ही मतलब है कि जितनी आवश्यकता हो उतना ही बोले; और यदि कभी-कभी बिलकुल ही मौन रहा करे, तो और भी अच्छा। (४) आत्मनिग्रह—अर्थात् अपने आपको वश में रखना—मन जब बुरे कामों की तरफ जाने लगे, तब उसको रोकना, (५) भाव-संशुद्धि—अर्थात् मन में सदैव कल्याणकारी भावना आवे, कभी बुरी भावना को धारण न करे। यही सब मन का तप कहलाता है।

इन तीनों प्रकार के सात्विक तपों का प्रत्येक मनुष्य को अपने जीवन में अभ्यास करना चाहिए। मिथ्या से बचना चाहिए।

परोपकार

मनुष्य के सब धर्मों में श्रेष्ठ परोपकार-धर्म है। दूसरे के साथ भला करना, दीन दुखियों पर दया करना, अत्याचार से पीड़ित लोगों की सहायता करना मनुष्य का परम धर्म है। किसी विद्वान् ने कहा है कि—

अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचन द्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥

अर्थात् अठारहों पुराण में, जो महर्षि व्यास के रचे हुए माने जाते हैं, उसमें व्यास जी के दो ही वचन हैं, और ये वचन सब पुराणों के सारभूत हैं। वे दो वचन कौन हैं? यही कि, परोपकार के समान कोई पुण्य नहीं; और परपीड़ा के समान कोई पाप नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी कहा है:—

परहित-सरिस धर्म नहिं भाई।
पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई॥

परोपकार के समान कोई धर्म नहीं, और दूसरे को दुख देने के समान कोई अधर्म नहीं। जो परोपकार का व्रत लेते हैं, वही सच्चे साधु हैं। एक बड़े साधु ने कहा है कि, जो दीन हीन दुखियों को और दूसरे से पीड़ित लोगों को अपना मानता है, उनकी सेवा में अपना तन मन धन अर्पण करता है, वही बड़ा साधु है और उसी में ईश्वर का निवास है। हमसे यदि कोई पूछे कि, ईश्वर कहाँ है, तो हम कहेंगे कि, वह सब से पहले परोपकारी पुरुष में है। ऐसे पुरुषों का अपना कोई नहीं होता—सब अपने होते हैं, जैसी दया ये अपने बच्चों पर करते हैं, अपने दासदासियों पर करते हैं वैसी ही दया दीन-दुखियों

पर, अत्याचार-पीड़ित लोगों पर, करते हैं। अगर देखते हैं कि किसी देश के लोग अत्याचारी शासन से पीड़ित हो रहे हैं, उन पर जुल्म हो रहा है, तो वे उस जुल्म से उनको छुड़ाने का प्रयत्न करते हैं। परोपकारी पुरुष यदि देखता है कि अन्धे-लूले-लँगड़े भूख-प्यास और जाड़े से मर रहे हैं, तो उन पर दया करके अपनी शक्ति भर उनका दुःख दूर करता है। परोपकारी पुरुष यदि देखता है कि अमुक जगह के लोग अज्ञान-अन्धकार में डूबे हुए हैं, उनको अपनी मुक्ति का मार्ग नहीं सुझाई दे रहा है, तो, वह ऐसे पुरुषो को विद्यादान देकर — उनको सुन्दर शिक्षा का प्रबन्ध करके—उनको उस अज्ञान से छुड़ाता है। परोपकारी पुरुष सारे संसार पर प्रेम करता है। उसका कोई अपना निज का घर नहीं है, जिस पर अधिक प्रेम करे। और यदि उसका कोई घर है, तो अपने घर पर भी उतना ही प्रेम करता है, जितना दूसरों पर करता है। इसीलिए कहा जाता है कि परोपकारी लोग विश्वबन्धु होते हैं। किसी कवि ने बहुत ठीक कहा है कि :—

अयं निजः परोवेति गणना लघुचेतसाम् ।
उदारचरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम् ॥

अर्थात् यह अपना है, यह पराया—ऐसा हिसाब तो क्षुद्र-हृदय वाले लोगों का है, जिनका तंग दिल है। जो उदार-हृदय पुरुष हैं, जिनका दिल बड़ा है, उनके लिए तो सारा ससार ही उनका कुटुम्ब है।

इतना ऊँचा भाव न लिया जावे, खाली सांसारिक व्यवहार पर ही ध्यान दिया जावे, तो भी परोपकार करना मनुष्य का धर्म ठहराता है। क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। मनुष्य का मनुष्य के साथ सम्बन्ध पड़ता है। बिना

इसके काम नहीं चल सकता। एक मनुष्य यदि दूसरे के साथ उपकार न करे, तो उसका काम कैसे चले ? जब वह दूसरे के साथ उपकार करेगा, तब दूसरे भी उसके साथ उपकार करेंगे; परन्तु इस प्रकार का उपकार नीचे दरजे का उपकार है। बदला लेने की गरज से यदि हमने किसी के साथ भलाई की, तो क्या की ! सच्चा उपकार तो वही है, जो निष्काम भाव से किया जाय; परोपकार कोई अभिमान की बात नहीं है—यह नहीं कि हमने किसी दूसरे के साथ कोई उपकार किया तो कोई बड़ा भारी काम कर डाला। परोपकार से दूसरे का हित तो पीछे होता है, पहले अपना हित हो जाता है। परोपकार से हमारी आत्मा उन्नत होती है, हमारे अन्दर सद्भाव बढ़ता है हमारा हृदय विशाल होता है। नम्रता और सेवा का भाव बढ़ता है। इससे स्वयं हमारे हृदय को भी सुख होता है। इस लिए परोपकारी पुरुष स्वभाव से ही नम्र होते हैं। उनमें अभिमान नहीं होता। परोपकारी किस प्रकार नम्र होते हैं। इस विषय में किसी कवि ने बहुत ही सुन्दर एक श्लोक कहा है:—

भवन्ति नम्राः तरवः फलोद्गमै-
र्नवाम्बुभिर्भूरिविलम्बिनो घनाः ।
अनुद्धताः सत्पुरुषाः समृद्धिभिः
स्वभाव एवैष परोपकारिणाम् ॥

वृक्ष बड़े भारी परोपकारी हैं, उनसे हमारा कितना हित होता है। उनमें जब फल आते हैं तब वे नम्र हो जाते हैं। इसी प्रकार बादल भी हमारे उपकारी हैं, उनमें जब पानी भर आता है, तब वे भी नीचे लच जाते हैं। इसी प्रकार सज्जन पुरुष वैभव पाकर नम्र हो जाते हैं। परोपकारी पुरुषों का तो यह स्वभाव ही होता है। नम्रता उनका स्वभावसिद्ध गुण है।

सारांश यह है कि परोपकार करते हुए मनुष्य को अभिमान नहीं होना चाहिए; और न सच्चे परोपकारी को कभी अभिमान होता है। आजकल प्रायः ऐसा देखा जाता है कि जो दूसरों के उपकार का काम करते हैं, वे समझते हैं कि हम तो कोई बड़े आदमी हैं, सब लोगों को हमारा आदर करना चाहिए। परन्तु वास्तव में परोपकारी का भाव ऐसा होने से उसका सब परोपकार व्यर्थ हो जाता है।

परमात्मा की यह सारी सृष्टि परोपकारमय है। यहाँ पर जड़-चेतन, स्थावर-जङ्गम, जितनी वस्तुयें हैं, सब परोपकार के लिए हैं। एक दूसरे के उपकार से ही यह सृष्टि चल रही है। परमात्मा, हम सब का पिता, ऐसा दयालु और परोपकारी है कि वह जड़ वस्तुओं से भी हमको परोपकार की ही शिक्षा देता है। किसी कवि ने क्या ही अच्छा कहा है:—

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः।
स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः॥
नादन्ति शस्यं खलु वारिवाहाः।
परोपकाराय सतां विभूतयः॥

अर्थात् नदियां स्वयं पानी नहीं पीतीं। वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते। बादल स्वयं धान्य नहीं खाते। हमारे लिए जल बरस कर फ़सल उपजाते हैं। इसी प्रकार सज्जन पुरुषों के पास जो कुछ द्रव्य होता है, वे उसे अपने काम में नहीं लाते। उसे परोपकार में ही खर्च करते हैं।

परोपकारी पुरुष जब निष्काम होकर परोपकार करते हैं, तब अन्य लोग स्वयं ही आकर उनकी सेवा करते हैं। जिसने अपना तन, मन, धन सब कुछ दूसरों के लिए अर्पण कर दिया है, उसके लिए कमी किस बात की? एक कवि ने कहा है:—

परोपकारणां येषां जागर्ति हृदये सताम्।
नशयन्ति विपदस्तेषां संपदः स्युः पदे पदे ॥

जिस सत्पुरुष के हृदय में सदैव परोपकार जागृत रहता है, उसकी सारी विपदाएं नाश हो जाती हैं; और पद पद पर उसको सम्पदा मिलती है। पर सम्पदा की उसको परवा कहाँ है? उसको तो सम्पदा और आपदा दोनों बराबर हैं। वह तो अपने परोपकारी रूपी भारी कार्य में मग्न है। राजर्षि भर्तृहरि जी ने ऐसे परोपकारी कार्यकर्त्ता पुरुष की दशा का बहुत ही अच्छा वर्णन किया है :—

क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनम्।
क्वचिच्छाकाहारो क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः ॥
क्वचित्कथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो।
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम् ॥

अर्थात् ऐसा परोपकारी कार्यकर्त्ता पुरुष कभी तो पृथ्वी पर कङ्कड़ों में ही सो रहता है, कभी सुन्दर पलंग पर सोता है, कभी शाक खाकर रह जाता है, कभी सुन्दर सुस्वादु भोजन मिल जाते हैं, तो उनसे भी उसे उतना ही सन्तोष होता है—कभी कथड़ी-गुदड़ी ओढ़कर ही अपना काम चला लेता है; और कभी सुन्दर रेशमी वस्त्र धारण करने को मिल जाते हैं, तो उन्हीं को पहन लेता है। सच तो यह है कि वह अपने काम में मस्त रहता है। उसको ऐसे सुख-दुःख की परवा नहीं रहती।

पाठको, आइये, हम सब भी अपने जीवन में परोपकार के व्रती बनें; और दोनों लोकों में सुखी हों।

ईश्वर-भक्ति

जिसने हम सब को, और इस सारे संसार को, रचा है, जिसकी प्रेरणा से सूर्य, और चन्द्र और तारामण्डल नियमित गति से अपना अपना कार्य करते है, जिसकी इच्छा से वायु वहती है, मेघ वरसता है, पृथ्वी में अन्य वनस्पतियां उत्पन्न होती है, ऋतुपरिवर्तन ठीक समय पर होता है; जिसकी शक्ति से सागर अपनी मर्यादा में ठहरे हैं; और जिसकी सत्तामात्र से सुर-नरमुनि सब अपना अपना व्यवहार चलाते है; वही सवशक्तिमान् पुरुषोत्तम ईश्वर के नाम से पुकारा जाता है। वह सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। जो कुछ हमको दिखाई देता है; और जो कुछ नहीं दिखाई देता, सब में वह भरा हुआ है; और सब ब्रह्माण्ड उसके पेट में है। उसकी सत्ता का सब जगह अनुभव कर के जो मनुष्य संसार में चलता है, उस पर उसकी विशेष कृपा होती है। वही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त करता है। कृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है :—

यतः प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥

गीता

जिसमें सम्पूर्ण भूतमात्र—सारे जड़ चेतन प्राणी—उत्पन्न हुए हैं; और जिसके सामर्थ्य से सारा जगत् चल रहा है, उस परम पुरुष परमात्मा की पूजा, अपने कर्मों के द्वारा, करके ही मनुष्य सिद्धि को प्राप्त कर सकता है। इसलिए दिन-रात, चौबीसों घंटे, प्रत्येक कार्य करते हुए, उसका स्मरण रखना मनुष्य का कर्त्तव्य है। अपना सारा व्यवहार उसी के हेतु करके

अपने सब कर्म उसको समर्पित करने चाहिए। इसके सिवाय, प्रातःकाल और सायंकाल विशेष रूप से उसकी उपासना करने से चित्त प्रसन्न रहता है, हृदय में बल आता है; और परमात्मा की सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता का अनुभव करके मनुष्य बुरे कर्मों से बचा रहता है। देखिये, उपनिषद् में कहा है :—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥

उपनिषद्

अर्थात् प्रातःकाल सोने के अन्त में, और सायंकाल, जागृत अवस्था के अन्त में, जो धीर पुरुष उस महान् सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना और स्तुति करता है, उसको किसी प्रकार का शोच नहीं होता। इसलिये आबालवृद्ध स्त्री पुरुष सबका यह परम धर्म है कि वह सुबह चारपाई से उठते ही और रात को सोने से पहले इस प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करे :—

त्वमेव माता च पिता त्वमेव ।
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ॥
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव ।
त्वमेव सर्वं मम देवदेव ॥

हे देवों के देव भगवान्, आप ही हमारे माता हैं, और आपही पिता हैं, आप ही बन्धु हैं, और आप ही सखा हैं; आप ही विद्या हैं, और आप ही हमारे धन हैं (कहाँ तक कहें) आप ही हमारे सर्वस्व हैं।

यं ब्रह्मावरुणेन्द्ररुद्रमरुतः स्तुन्वन्ति दिव्यैः स्तवै-
र्वेदैः सांगपदक्रमोपनिषदैर्गायन्ति यं सामगाः ॥
ध्यानावस्थिततद्गतेन मनसा पश्यन्ति यं योगिनो ।
यस्यान्तं न विदुः सुरासुरगणा देवाय तस्मै नमः ॥

ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र और मरुतगण दिव्य स्तोत्रों से जिसकी स्तुति करते हैं, सामगायन करनेवाले लोग, षडंग, पद, क्रम और उपनिषदों के साथ वेदों के द्वारा जिसका गान करते हैं, योगीजन ध्यानावस्थित होकर तदाकार मन से, जिसको देखते हैं, सुर और असुर भी जिसका अन्त नहीं पाते. उस परम पिता परमात्मा को नमस्कार है।

नमस्ते सते ते जगत्कारणाय नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय।
नमोऽद्वैततत्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥

संसार को उत्पन्न करने वाले उस अनादि, अनन्त परमात्मा को नमस्कार है। सम्पूर्ण लोगों के आश्रयभूत उस चैतन्यस्वरूप परमात्मा को नमस्कार है। मुक्ति देनेवाले उस अद्वैतत्व को नमस्कार है। हे सदासर्वदा रहनेवाले, सर्वव्यापी ईश्वर, आपको नमस्कार है।

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं परं जगत्पालकं स्वप्रकाशम्।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ प्रहर्तृ त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥

हे भगवान्, तुम ही एक शरण देनेवाले हो, तुम ही एक भक्ति करने योग्य हो, तुम्हीं एक संसार का पालन करने वाले और प्रकाशस्वरूप हो, तुम्हीं एक संसार की रचना, पालन और हरण करनेवाले हो, तुम्हीं एक सब से श्रेष्ठ, निश्चल और निर्विकल्प हो—अर्थात् तुम्हारा कभी नाश नहीं है; और तुम कल्पना से बाहर हो।

भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम्।
महोच्चैः पदानां नियन्तृ त्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥

तुम्हीं एक भयों के भय और भीषणों के भीषण हो, सब प्राणियों के एकमात्र गति तुम ही हो, पावनों को भी पावन करनेवाले

हो, बड़ों से बड़ों के भी तुम हो एक नियन्ता हो। तुम श्रेष्ठों में भी श्रेष्ठ हो; और रक्षकों के भी रक्षक हो।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्य च परं च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप ॥

हे अनन्तरूप, तुम्हीं आदिदेव हो, तुम्हीं पुराण पुरुष हो, तुम्हीं इस विश्व के परम निधान हो। तुम्हीं सब के जाननेहारे हो; और (इस संसार में) जो कुछ जानने योग्य है, सो भी तुम्हीं हो। तुम्हीं परम धाम हो; और (हे भगवान्) तुम्हीं ने इस सारे संसार को फैलाया है।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥

भगवन्! इस चराचर जगत् के पिता तुम्हीं हो, और तुम्हीं सबके पूजनीय सद्गुरु हो। तुम्हारे समान और कोई नहीं—फिर तुम से बड़ा और कौन हो सकता है? तीनों लोक में आपका अनुपम प्रभाव है।

इस प्रकार सुबह-शाम परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करके वेदमन्त्र से इस प्रकार उससे वरदान मांगना चाहिए:—

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्य्यमसि वीर्य्यमयि धेहि बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धहि।

हे परमपिता परमात्मन् आप प्रकाशस्वरूप हैं, कृपा कर मुझ में प्रकाश स्थापन कीजिए। आप अनन्त-पराक्रम-युक्त हैं, इसलिए मुझ में अपने कृपाकटाक्ष से पूर्ण पराक्रम धरिये। आप अनन्तबलयुक्त हैं, इस लिए मुझ में भी बल धारण कीजिए। आप अनन्तसामर्थ्ययुक्त हैं, इस लिए मुझको भी पूर्ण

सामर्थ्य दीजिए। आप दुष्ट कार्यों और दुष्टों पर क्रोध करने वाले हैं, मुझको भी वैसा ही बनाइये। आप निन्दास्तुति और अपने अपराधियों को सहन करनेवाले हैं, कृपा करके मुझको भी वैसा ही सहनशील बनाइये।

यही ईश्वर-भक्ति का फल है कि सब ईश्वरीय गुणों को हम अपने हृदय में धारण करें। ईश्वर का सच्चा भक्त वही है, जो उसकी आज्ञा के अनुसार चलकर, स्वयं सुख पाता और संसार को सुखी करते हुए अपनी जीवनयात्रा पवित्रतापूर्वक पूर्ण करता है।

गुरु-भक्ति

माता-पिता आचार्य और जितने लोग हमसे विद्यावुद्धि और अवस्था में बड़े हैं, सब गुरु हैं। उनका आदर सन्मान और सेवा करना धर्म है। बड़े लोगों की सेवा से क्या लाभ होता है, इस विषय में मनुजी कहते हैं:—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्त आयुर्विद्यायशोबलम्॥

मनु०

अर्थात् जो लोग नम्र और सुशील होते हैं, और प्रति दिन विद्वान् वृद्धि पुरुषों की सेवा करते रहते हैं, उनकी चार बातें बढ़ती हैं—

वृद्धि लोगों के पास बैठने-उठने, उनकी सेवा करने, उनकी आज्ञा मानने से वे ऐसा उपदेश करते हैं; और स्वयं भी उनका सदाचरण देखकर हमारे ऊपर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि

जिससे हमारी आरोग्यता और चित्त की शान्ति बढ़ती है, जिससे आयु की वृद्धि होती है। उनका अनुभव, ज्ञान इतना प्रभावशाली होता है कि उसको देख सुनकर हमारी विद्या और जानकारी बढ़ती है, और इसी प्रकार उनका सत्संग करने से यश और उनका ब्रह्मचर्य इत्यादि देखकर शारीरिक बल बढ़ता है। शतपथ ब्राह्मण में कहा :—

मातृमान् पितृमान् आचार्य मान् पुरुषो वेद।

शतपथ०

अर्थात् जिसके माता-पिता, आचार्य इत्यादि गुरुजन विद्वान्, शूरवीर और बुद्धिमान हैं, वही धेरुष ऐसा हो सकता है। वृद्धों को देखते ही, उनका किस प्रकार अभिवादन और स्वागत सत्कार करना चाहिए, इस विषय में भगवान् मनु कहते हैं :—

अभिवादयेद् वृद्धांश्च दद्याच्च वासनं स्वकम्।
कृतांजलिरुपासीत गच्छतः पृष्ठतोऽन्वियात्॥

मनु०

अर्थात् जब वृद्ध लोग हमारे पास आवें, तब उठकर बड़ी नम्रता के साथ उनको प्रणाम करें; और अपना आसन उनको देकर स्वयं उनके नीचे बैठे; फिर बड़ी नम्रता और सुशीलता से उनसे वार्तालाप करें उनका सत्कार करें, और जब वे चलने लगें, तब कुछ दूर तक उनके पीछे-पीछे जावें।

ये विनय और नम्रता के भाव मनुष्य में श्रद्धा और भक्ति पैदा करते हैं। परन्तु प्रश्न यह है कि हम वृद्ध किसको समझें क्या जिसके बाल पक गये हैं, रीढ़ झुक गयी है, शरीर में झुर्रियाँ पड़ गई हैं, वही वृद्ध है? महर्षि मनु इसका उत्तर देते हैं :—

न हायनैर्न पलितैर्न वित्तेन न बन्धुभिः।
ऋषयश्चक्रिरे धर्मं योऽनूचानः स नो महान् ॥

मनु०

अर्थात् जिसको उम्र ज्यादा है, अथवा जिसके बाल सफेद हो गये हैं; अथवा जिसके पास धन अथवा जन बहुत हैं, वही वृद्ध नहीं है, किन्तु ऋषियों के मत से वृद्ध वही है जो विद्या, धर्म, विज्ञान, अनुभव, सदाचार, इत्यादि बातों में बड़ा है—फिर चाहे वह बाल, वृद्ध, युवा, स्त्री, पुरुष,—कोई हो, उसकी भक्ति और सेवा मनुष्य को अवश्य करनी चाहिए। बड़े-बूढ़ों के साथ कैसा बर्त्ताव होना चाहिए, इस विषय में व्यास जी ने महाभारत में कहा है :—

गुरुणां चैव निर्बन्धो न कर्त्तव्यः कदाचन।
अनुमान्यः प्रसाद्यश्च गुरुः क्रुद्धो युधिष्ठिर ॥

महाभारत

अर्थात् हे महाराज युधिष्ठिर, बड़े-बूढ़ों के साथ कभी हठ और वादविवाद नहीं करना चाहिए। वे कदाचित् क्रोध भी करें, तो स्वयं नम्रता धारण करके उनको प्रसन्न करना चाहिए। सब गुरुओं में श्रेष्ठ माता है। इसके समान कोई देवता संसार में नहीं है। महाभारत निर्वाणपर्व में कहा है :—

गुरुणा चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः।
माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा ॥

महाभारत

सब गुरुओं में माता सर्वश्रेष्ठ गुरु है। परन्तु उसके बाद फिर पिता का नम्बर है। माता पृथ्वी से भी गुरुतर है, और पिता आकाश से भी ऊँचा है। दोनों का आदर करना चाहिए।

परन्तु आचार्य का दरजा भी कुछ कम नहीं। व्यास जी कहते हैं :—

शरीरमेतौ सृजतः पिता माता च भारत।
आचार्यशास्ता या जातिः सा सत्या साऽजराऽमरा ॥

महाभारत

पिता-माता तो केवल शरीर को ही जन्म देते हैं। परन्तु आचार्य ज्ञान और सदाचार, इत्यादि की शिक्षा देकर मनुष्य को जो जाति देता है, वह सत्य, अजर और अमर है इसलिए :—

शुश्रूषते यः पितरं नासूयते कदाचन।
मातरं भ्रातरं वापि गुरुमाचार्यमेव च ॥
तस्य राजन् फलं विद्धि स्वर्लोके स्थानमर्चितम् ॥

महाभारत

हे राजन्, जो मनुष्य माता-पिता, भाई, आचार्य, इत्यादि बड़े बूढ़े स्त्री-पुरुषों का आदर-सत्कार करता है, उनकी सेवाशुश्रूषा करता है, उनसे कभी द्वेष नहीं करता है, उसको परम सुख प्राप्त होता है। इसलिए—

श्रावयेन्मृदुलां वाणीं सर्वदा प्रियमाचरेत्।
पित्रोराज्ञानुसारी स्यात्स पुनः कुलपावनः ॥

महाभारत

माता-पिता इत्यादि बड़े लोगों के सामने सदा मधुर वचन बोलो; और सदा ऐसा ही आचरण करो, जो उनको प्रिय हो। जो पुत्र माता-पिता की आज्ञा में चलता है, वह अपने कुल को पवित्र करता है। माता-पिता अपने पुत्रों से क्या आशा रखते हैं? क्या उनको कोई स्वार्थ है? नहीं वे तो यही चाहते हैं कि, सब प्रकार हमारे पुत्र और पुत्री सुखी रहें। महर्षि व्यास जी इस विषय में कहते हैं :—

आशंसते हि पुत्रेषु पिता माता च भा॥९९
यशः कीर्तिमथैश्वर्येव प्रजां धर्मं तथैव च॥
तयोराशान्तु सफल यः करोति स धर्मवित्॥

महाभारत

माता-पिता इत्यादि पुत्र-पुत्री से यही आशा रखते हैं कि, हमारी सन्तान यशस्वी, कीर्तिवान्, ऐश्वर्यवान् हो, सन्तान भी उत्पन्न करे, और धर्म से चले। बस यही आशा उनको होती है; और इस आशा को जो मनुष्य पूर्ण करता है, वही धर्म को जानता है।

बड़ा भाई भी पिता के तुल्य होता है। वह भी गुरु है। इसके विषय में महाभारत में इस प्रकार कहा है :—

ज्येष्ठो भ्राता पितृसमो मृते पितरि भारत।
सह्येषां वृत्तिदाता स्यात् सा चैतान् परिपालयेत्॥

अर्थात् जेठा भाई पिता के समान होता है, इसलिए उसको उचित है कि, अपने छोटे भाई-बहिनों को निर्वाह में लगाकर उनका पालन-पोषण करे। छोटे भाइयों को भी उचित है कि—

कनिष्ठास्तं नमस्येरन् सर्वे छन्दानुवर्तिनः।
तमेव चोपजीवेरन् यथैव पितरं तथा॥

वे बड़े भाई को आदरपूर्वक नमस्कार किया करें; और जिस प्रकार वह आज्ञा करें वैसा ही बर्ताव रखे; और पिता की तरह उसकी सेवा किया करे।

इसी प्रकार चाचा चाची, भाई-भौजाई, नाना-नानी, मामा-मामी, सास ससुर, सब बड़े-बूढ़े इष्ट कुटुम्बियों के साथ गुरु का बर्ताव करके उनका आदर-सत्कार करना चाहिए। सब के परस्पर प्रसन्न रहने से बड़ा आनन्द रहता है।

स्वदेश-भक्ति

अपनी जन्मभूमि पर श्रद्धा और भक्ति होना भी मनुष्य का एक बड़ा भारी गुण है। जिस देश में हम पैदा हुए हैं; जिसके अन्न जल से हमारा शरीर पला, जिस देश के निवासियों के सुख-दुःख से हमारा गहरा सम्बन्ध है उस देश के विषय में अभिमान होना—उसकी भक्ति करना—हमारा परम कर्त्तव्य है। कहा है कि—

जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।

अर्थात् जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी श्रेष्ठ है। स्वर्ग का सुख तो केवल हम कानों से सुनते मात्र हैं, उसका कुछ भी अनुभव इस जन्म में हमको नहीं है; परन्तु अपनी मातृभूमि का दिया हुआ सुख हम पद पद पर अनुभव करते हैं। घी, दूध, मिठाई, सुन्दर अन्न वस्त्र, इत्यादि इस भूमि से पाकर हम सुखी होते हैं। अपनी जन्मभूमि का स्वास्थ्यवर्धक जलवायु पाकर हम आनन्दित होते हैं। नाना प्रकार की औषधियाँ प्रदान करके यही भूमि रोग के समय हमारी रक्षा करती है। इसके मनोहर प्राकृतिक दृश्यों को देखकर हमारा चित्त प्रफुल्लित होता है। जन्मभूमि के तीर्थस्थानों पर जाकर हम अपनी आत्मा और मन को पवित्र करते हैं। इसी की गोद में उत्पन्न होनेवाले साधुमहात्माओं की सत्संगति करके हम अपने चरित्र को सुधारते हैं। इसी भूमि पर प्राचीन काल में जो ऋषि-मुनि तथा विद्वान् हो गये हैं, उनके नाना प्रकार के शास्त्रों को पढ़ कर हम अपना ज्ञान बढ़ाते हैं। इसी देश से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं से हमको जीविका मिलती है। कहाँ तक कहें स्वदेश

का मनुष्य के जीवन से पद पद पर सम्बन्ध है; और इसीलिए विद्वानों ने इसको स्वर्ग से श्रेष्ठ माना है।

हमारा देश भारतवर्ष है। इसका प्राचीन नाम आर्यावर्त्त है। "आर्यावर्त्ते भरतखण्डे पुण्यक्षेत्रे" इत्यादि कहकर हम प्रत्येक शुभकर्म पर संकल्प पढ़ा करते हैं। इसका भी यही तात्पर्य है कि, हम इस पुण्यक्षेत्र-भरतखण्ड आर्यावर्त्त को सदैव याद रखें। कोई भी शुभ कार्य करने लगें, अपने देश का भक्तिपूर्वक स्मरण कर लें।

आर्यावर्त्त का अर्थ यह है कि जहां आर्य लोग बराबर अवतार लेवें। आर्य कहते हैं श्रेष्ठ को। इस प्रकार यह सृष्टि आदि से ही श्रेष्ठ पुरुषों के अवतार की भूमि है। जब सम्पूर्ण संसार अज्ञान में था, जो लोग आज हमको सभ्य बनाने आये हैं, वे जिस समय जंगली अवस्था में फिरते थे, उस समय आर्यावर्त्त में ऋषि-मुनि और ज्ञानी लोग हुए थे; और यहीं से चारो ओर ज्ञान का प्रकाश फैला था। इसी हमारी मातृभूमि के गगन में पहला प्रभात हुआ। यहीं के तपोवनों में पहले वेदमंत्रों का गान हुआ। ज्ञान, धर्म और नीति का प्रचार सारे संसार में यहीं से हुआ। महर्षि मनु ने कहा है :—

> एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
> स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः

मनु०

अर्थात् इसी देश के उत्पन्न हुए ब्राह्मणों—अर्थात् विद्वानों से सम्पूर्ण पृथ्वी के लोग अपने अपने चरित्र की शिक्षा लें। मनुजी के इस कथन से मालूम होता है कि, उस समय, सृष्टि के आदि में हमारा ही देश सब से अधिक सुसभ्य और विद्वान

था। इसलिये इसका नाम पुण्यक्षेत्र और सुवर्ण-भूमि था। इस सुवर्णभूमि में जितने विदेशी लोग जब जब आये, खूब धनवान् बन गये। पारसमणि यही भूमि है। लोहरूप दरिद्री विदेशी इसको छूते ही सोना, अर्थात् धनाढ्य, बन जाते हैं। अब भी यही बात है।

किसी समय इस देश के राजा—क्षत्रिय लोग—सम्पूर्ण पृथ्वी में राज्य करते थे। विदेश में जाकर उन्होंने अपने उपनिवेश बसाये थे; और अपनी सभ्यता तथा धर्म का प्रचार किया था। महाभारत के वर्णन से जान पड़ता है कि, पाण्डवों ने अपने दिग्विजय में अनेक विदेशियों को जीता था। वही आर्यावर्त्त की पवित्र भूमि इस समय पराधीन हो रही है। सच कहते हैं—"पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।" इसलिए आज इस देश के निवासी बात बात में दूसरों का मुँह ताक रहे हैं। यह सब हमारे ही कर्मों का फल है। हम इस बात को भूल गये कि हमारा देश एक कर्मभूमि है। हम कर्म को छोड़ कर भोग में पड़ गये; और झूठे कर्म, अर्थात् भाग्य, पर भरोसा करके बैठे रहे। आपस की फूट ने हमारी अकर्मण्यता को सहारा दिया; और हम अपना सब कुछ खो बैठे।

भाइयो, अब तो जग जाओ, अपनी जन्मभूमि की प्राचीन महिमा और गौरव का स्मरण करो। कर्म करने में लग जाओ। इस भारत-भूमि में जन्म पाना बड़े सौभाग्य की बात है; क्योंकि कर्म हम यहीं पर कर सकते हैं। अन्य सब देश भोग-भूमि हैं। कर्मभूमि यही है। कहा है कि—

दुर्लभं भारते जन्म मानुष्यं तत्र दुर्लभम्

अर्थात् इस भारतवर्ष में—इस आर्यभूमि में—जन्म पाना दुर्लभ

है और फिर मनुष्य का जन्म पाना तो और भी दुर्लभ है; क्योंकि मनुष्य का कर्म इसी जन्म में और इसी भूमि में कर सकता है; और कर्म करते हुए ही मनुष्य को सौ वर्ष तक जीवित रहने के लिए यजुर्वेद में कहा है :—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥

यजुः०

अर्थात् मनुष्य कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक जीने की अभिलाषा करे; क्योंकि ऐसा करने से ही उसको कर्म बाधा नहीं देंगे। वह उनमें लिप्त नहीं होगा।

भारतभूमि पराधीनता में फँसी हुई है। उसको छुड़ाओ। इसके वीर बालक बनो; और सत्कर्म करके इस लोक और परलोक को सफल करो। भारत-भूमि में जन्म लेने के लिए देवता तक तरसते हैं। वे इसके गीत गाते हैं :—

गायन्ति देवाः किल गीतकानि
धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे ।
स्वर्गापवर्गास्य फलार्जनाय,
भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात् ॥

अर्थात् देवगण इस भारतभूमि के पुण्यगीत गाते हैं; और कहते हैं कि, हे भारतभूमि, तू धन्य है, ! धन्य है ! स्वर्ग और मोक्ष का फल सम्पादित करने के लिए वे देवता लोग अपने देवपन से यहां मनुष्य-जन्म धारण करने आते हैं। पाठको, ऐसी पुण्यभूमि में बड़े भाग्य से हमने मनुष्य की देह पाई है। अब इसको सार्थक करो। जिस तरह हो सके, माता को महान् संकट से छुड़ाओ। यह दीनहीन होकर आशापूर्ण नेत्रों से तुम्हारी ओर देख रही है। इसकी सुध लो तन, मन, धन,

बल-वीर्य सब खर्च करके स्वधर्म और स्वदेश की सेवा में लग जाओ। जब तक भारतभूमि का उद्धार नहीं होगा, संसार में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। भारत के उद्धार पर ही संसार के अन्य देशों की शान्ति निर्भर है। इसी देश ने किसी समय संसार को शान्ति और सुख का सन्देश दिया था; और फिर भी इसी की बारी है। परन्तु जब तक यह स्वयं अपना उद्धार न कर ले, दूसरे का उद्धार कैसे कर सकता है?

इसलिए सब को मिलकर अपनी जननी-जन्मभूमि की सेवा में लग जाना चाहिए।

अतिथि-सत्कार

जिसके आने की कोई तिथि नियत न हो और अचानक आ जाय, उसको अतिथि कहते हैं। ऐसे व्यक्ति का आदर-सत्कार करना मनुष्य का परम धर्म है। परन्तु वह अतिथि कैसा हो? धार्मिक हो, सत्य का उपदेश करनेवाला हो, संसार के उपकार के लिए भ्रमण करता हो, विद्वान् हो। ऐसे ही अतिथि की सेवा से गृहस्थ को उत्तम फल मिलता है। ऐसा अतिथि यदि घर में अचानक आ जाय तो—

संप्राप्ताय त्वतिथये प्रदद्यादासनोदके।
अन्नं चैव यथाशक्ति सत्कृत्य विधिपूर्वकम्॥

उसका सम्मान के साथ स्वागत करे। उसको प्रथम पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय, तीन प्रकार का जल देकर फिर आसन पर सत्कार पूर्वक बिठाले। इसके बाद सुन्दर भोजन और उत्तमोत्तम पदार्थों से उसकी सेवा-शुश्रूषा करके उसको प्रसन्न

करे। इसके बाद स्वयं भोजन करके फिर उस विद्वान् अतिथि के पास बैठकर, नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के प्रश्न करके उससे धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का मार्ग पूछे; और उसके सत्संग से लाभ उठाकर अपना आचरण सुधरे। यही अतिथि-पूजन का फल है।

आजकल प्रायः बहुत से पाखण्डी साधु, संन्यासी, बैरागी घूमा करते हैं, और गृहस्थों के द्वार पर पहुँच जाते हैं; परन्तु इनमें से अधिकांश लोग धूर्त और बदमाश होते हैं। इनको अतिथि नहीं समझना चाहिए। महर्षि मनु ने ऐसे लोगों की सेवा का निषेध किया है :—

पाषंडिनो विकर्मस्थान् वैडालव्रतिकान् शठान्।
हैतुकान् वकवृत्तींश्च वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्॥

मनु०

अर्थात् ऊपर से साधु का भेष बनाये हुए; परन्तु भीतर से दुराचारी, वेदविरुद्ध आचरण करने वाले, बिलार की तरह परधन और परस्त्री की ताक लगानेवाले, शठ-मूर्ख, हठी, दुराग्रही, अभिमानी, आप जानें नहीं, दूसरे की मानें नहीं, कुतर्की, व्यर्थ बकनेवाले, बकवृत्ति, बगुला-भगत, ऊपर से शान्त दिखाई देवें; परन्तु मौका आते ही दूसरे का घात करें—इस प्रकार के साधु संन्यासी आजकल बहुत दिखाई देते हैं; और मूर्ख गृहस्थ स्त्री-पुरुष इनकी धुन में आकर अपना सर्वस्व नाश करते हैं; परन्तु महर्षि मनु कहते हैं कि इनका—

"वाङ्मात्रेणापि नार्चयेत्।"

सत्कार वाणीमात्र से भी न करना चाहिए—अर्थात् इनसे अच्छी तरह बोलना भी न चाहिए। आवें; और अपमानपूर्वक

चले जावें। क्योंकि यदि इनका आदर किया जायगा, तो ये पिंड नहीं छोड़ेंगे, और भी बढ़ेंगे; और अपने साथ ही साथ संसार को भी ले डूबेंगे।

ऐसे पाखंडियों को छोड़कर यदि कोई भी सज्जन, फिर चाहे किसी कारण से वह हमारा शत्रु ही क्यों न बन गया हो, वह भी यदि कुसमय का मारा हमारे घर आ जाय, तो उसका भी आदर करना चाहिए। हितोपदेश में कहा है :—

अरावप्युचितं कार्यमातिथ्यं गृहमागते।
छेत्तुः पार्श्वगतां छाया नोपसंहरते तरुः॥

—हितोपदेश

अर्थात् जैसे कोई मनुष्य किसी वृक्ष पर बैठा हुआ उस पेड़ को काट रहा हो, परन्तु फिर भी वह पेड़ उस मनुष्य के ऊपर से अपनी छाया को नहीं हटा लेता है; अपनी छाया से उसको सुख ही देता है, उसी प्रकार मनुष्य को उचित है कि शत्रु भी यदि अकस्मात् हमारे आश्रय को पाने के लिए घर आ जाय, तो उसका भी आदर करे।

गृहस्थ के लिए अतिथि-यज्ञ सब से श्रेष्ठ माना गया है। धर्मग्रन्थों में कहा है :—

न यज्ञैर्दक्षिणावद्भिर्वह्निशुश्रूषया तथा।
गृही स्वर्गमवाप्नोति यथा चातिथिपूजनात्॥
काष्ठभारसहस्रेण घृतकुम्भशतेन च।
अतिथिर्यस्य भग्नाशस्तस्य होमो निरर्थकः॥

अर्थात् यज्ञ, दान, अग्निहोत्र, इत्यादि से गृहस्थ को उतना फल नहीं मिल सकता, जितना अतिथि की पूजा से। चाहे हजारों मन काठ और सैकड़ों घड़े घी से होम करे; पर यदि अतिथि

निराश गया, तो उसका वह होम व्यर्थ है। इस लिए अतिथि-सत्कार अवश्य करना चाहिए।

मान लो कि हम बड़े दरिद्री हैं, हमको स्वयं अपने बालबच्चों के पालने के लिए अन्न नहीं है; फिर हम अतिथि को कहां से खिलावें ? इस पर धर्म तो यही कहता है कि चाहे बालबच्चे भूखों मर जायँ, और स्वयं भी भूखों मर जाय, पर अतिथि विमुख न लौटे। हमारे पुराणों में तो अतिथि-सेवा के ऐसे उदाहरण हैं कि यदि अतिथि ने किसी गृहस्थ की अतिथि-सेवा की परीक्षा लेने के लिए उसके बालक का मांस मांगा, तो वह भी गृहस्थ ने दिया ! पर वे अतिथि भी इतने समर्थ होते थे कि बालक को फिर जीवित करके चले जाते थे; पर आज-कल न तो ऐसे अतिथि हैं; और न ऐसे अतिथि-सेवक। अस्तु। यदि कुछ भी घर में न हो, उसके लिए महाभारत में व्यासजी ने कहा है :—

तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन।

महाभारत

अर्थात् तृण, भूमि, जल और सुन्दर सच्चे वचन, ये चार बातें तो किसी भी दरिद्री से भी दरिद्री भले आदमी के घर में रहेंगी ही। इन्हीं से अतिथि का सत्कार करे—अर्थात् तृण का आसन देकर उसको कम से कम शीतलजल से ही प्रसन्न करे; और फिर उससे ऐसी बातें करे, जिससे उसका चित्त सन्तुष्ट हो। चाणक्य मुनि ने अपनी नीति में कहा है :—

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात्तदेव वक्तव्यं वचने किं दरिद्रता॥

चाणक्यनीति

अर्थात् प्रिय वचन बोलने से ही सब प्राणी सन्तुष्ट हो जाते हैं। इसलिए कम से कम प्रिय वचन तो सब को अवश्य ही बोलना चाहिए। वचन में क्या दरिद्रता ?

यह तो गये-गुज़रे हुए घरों की बात हुई ; परन्तु जो समर्थ गृहस्थ हैं, उनको विधिपूर्वक अतिथि-सत्कार करना चाहिए। ऐसा नहीं कि, स्वयं आप तो बढ़िया-बढ़िया भोजन करे; और अतिथि को मामूली भोजन करा दे; इस विषय में महर्षि मनु ने कहा है :—

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत् ।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथ्यपूजनम् ॥

मनु०

अर्थात् जो भोजन अतिथि को न कराया हो, वह भोजन आप स्वयं भी न करे—पंक्तिभेद न होने दे। इस प्रकार कपट रहित होकर जो अतिथि की सेवा करते हैं, उनको धन, यश, दीर्घायु और स्वर्ग प्राप्त होता है।

अतिथिसेवा करते समय जात-पांत का भी भेद नहीं रखना चाहिए। जो कोई आजावे, परन्तु पाखण्डी साधु न हो, उसका सत्कार करना चाहिए। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—चाहे चांडाल भी हो, उस पर दया कर के भोजन इत्यादि देना मनुष्य का परम पवित्र कर्त्तव्य है। मनुजी कहते हैं :—

वैश्यशूद्रावपि प्राप्तौ कुटुम्बेऽतिथिधर्मिणौ ।
भोजयेत्सह भृत्यैस्तावानृशंस्यं प्रयोजनम् ॥

मनु०

अर्थात् अतिथिधर्म से यदि वैश्य-शूद्रादि तक कुटुम्ब में आ जावें तो उन पर भी दया करके, भृत्यों-सहित, भोजन करा देवे।

अतिथियज्ञ केवल भोजन से ही समाप्त नहीं होता है; किन्तु शास्त्र में उसकी पांच प्रकार की दक्षिणा भी बतलाई गई है। यह दक्षिणा जब तक न देवे: तब तक अतिथि यज्ञ पूर्ण नहीं हो सकता :—

चक्षुर्दद्यान्मनोदद्याद्वाचं दद्याच्च सूनृतां।
अनुव्रजेदुपासीत स यज्ञःपंचदक्षिणाः॥

अतिथि जब तक अपने घर में रहे, उसकी ओर प्रेम और आनन्दपूर्ण दृष्टि से देखे, उसकी सेवा में पूरा पूरा मन लगावे, सुन्दर और सत्य वाणी बोलकर उसको आनन्दित करे, अपने समागम से उसको पूर्ण सुख देने का प्रयत्न करे; और जब वह विदा होने लगे, तब थोड़ी दूर उसके पीछे-पीछे चलकर उसको प्रसन्न करे।

प्रायश्चित्त और शुद्धि

मनुष्य की प्रकृति स्वाभाविक ही कमजोर होती है; और वह अनेक सांसारिक प्रलोभनों में आकर, जान-बूझकर, अथवा बिना जाने, नाना प्रकार के पाप करता है। पाप कर्मों का फल उसको प्रत्यक्ष रूप से अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अवश्य ही भोगना पड़ता है। जैसा कि कहा है :—

अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।

परन्तु जो पाप हो चुका है, उस प्रकार के पापों में फिर मनुष्य न फँसे इसलिए शास्त्रों में अनेक प्रकार के पापों के लिए अनेक प्रकार के प्रायश्चित्त बतलाये गये हैं; और हिन्दूधर्म का विचार है कि उन प्रायश्चित्तों के कर लेने से किये हुए पापों का

मोचन हो जाता है। और सचमुच ही पाप-कर्म का फल जो दुःखभोग है, वह जप, तप, व्रत इत्यादि के द्वारा स्वयं अपने ऊपर ले लेने से—प्रायश्चित्त कर लेने से—पूर्ण हो जाता है; और मनुष्य आगे के लिए शुद्ध हो जाता है। अस्तु। पाप अनेक हैं, परन्तु उनमें सब से बड़े पाप मनुजी ने इस प्रकार बतलाये हैं :—

ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः।
महान्ति पातकन्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥

मनु०

ब्राह्मणों और सज्जनों की हत्या, मदिरा पीना, चोरी करना किसी माननीय गुरु की स्त्री, अथवा अन्य किसी दूसरे की स्त्री से व्यभिचार करना, ये बड़े भारी पाप हैं। और इन बातों से संसर्ग रखना भी एक बड़ा भारी पाप है।

इसका सारांश यही है कि हत्या, मदिरापान, चोरी और व्यभिचार तथा इन पापों के करने वाले मनुष्यों का संसर्ग के पांच बड़े भारी पातक हैं। इन पातकों तथा इसी प्रकार के अन्य भी सैकड़ो छोटे-मोटे पातकों के अनेक प्रायश्चित्त-व्रत, उपवास जप-तप इत्यादि के रूप में मनुस्मृति, इत्यादि स्मृतिग्रन्थों में लिखे हुए हैं। मनुस्मृति के ग्यारहवें अध्याय में अनेक प्रायश्चित्तों का वर्णन करने के बाद मनुजी ने लिखा है :—

ख्यापने नानुपातेन तपसाऽध्ययनेन च।
पापकृन्मुच्यते पापात्तथा दानेनचापदि ॥
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते।
तथा तथा त्वचेवाहिस्तेनाऽधर्मेण मुच्यते।
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृतं कर्मगर्हति।
तथा तथा शरीरं तत्तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥

कृत्वा पापं हि संतप्य तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ।
नैवं कुर्यां पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥
एवं संचिन्त्य मनसा प्रेत्यकर्मफलोदयम् ।
मनोवाङ् मूर्तिभिर्नित्यं शुभं कर्म समाचरेत् ॥
अज्ञानाद्यदिवा ज्ञानात्कृत्वा कर्म विगर्हितम् ।
तस्माद्विमुक्तिन्विच्छन् द्वितीयं न समाचरेत् ॥

मनु० अ० ११

इसका अर्थ यह है कि जिस किसी से कोई पाप हो जावे, वह अपने उस पाप को दूसरों पर प्रकट कर, पश्चात्ताप करे, तप करे, वेद शास्त्र का अध्ययन करे, तो उसका पाप छूट जायगा; और यदि इन बातों में से कोई भी न कर सके, तो दान करके भी वह पाप से छूट सकता है। अपने किये हुए अधर्म को ज्यों-ज्यों मनुष्य दूसरों से कहता है त्यों त्यों वह उस अधर्म से छूटता जाता है। जैसे सांप केंचुली से। ज्यों-ज्यों उसका मन अपने किये हुए दुष्कार्यों की निन्दा करता है; त्यों-त्यों उसका शरीर उस अधर्म से छूटता है। मनुष्य जो पाप करता है, उस पर ज्यों-ज्यों वह अपने मन में अपने ही ऊपर क्रोध करता है, अथवा मन ही मन अपने उस पाप पर दुखी होता है, त्यों-त्यों वह उस पाप से बचता है और फिर जब यह प्रतिज्ञा करता है कि, "अब ऐसा पाप न करूंगा" तब वह इस पापनिवृत्ति के कारण शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार मनुष्य को चाहिये कि वह बार बार अपने मन में सोचता रहे कि मैं इस जन्म में जो कर्म करूंगा उसका फल मुझे अगले जन्म में भी मिलेगा; और यह सोचकर वह मन वाणी और शरीर से सदैव शुभ काम करता रहे। पापों से अपने आपको बचाये रखे। सच तो यह है कि अज्ञान अथवा ज्ञान के जो कोई निन्दित

काम मनुष्य से हो जावे, और वह उस पापकर्म से छूटना चाहे तो फिर दुबारा उसको न करे।

यही भगवान् मनु के उपर्युक्त श्लोकों का अर्थ है। आज कल हिन्दू धर्म के लिए कोई राजनियम अथवा समाजनियम न होने के कारण प्रायश्चित्तों का प्रायः लोप हो गया है। चोरी, जुआ, मिथ्याभाषण, व्यभिचार, मद्यपान, हत्या इत्यादि पापों का तो साम्राज्य है। इन पापों को करते-कराते हुए आज न तो कोई प्रायश्चित करता है, और न समाज ही इनके लिए कोई प्रायश्चित्त कराता है। ये मनुजी के गिनाए हुए पातक हैं; परन्तु इनका आज कोई प्रायश्चित्त नहीं है। इसी से यह धर्मक्षेत्र भारतवर्ष आज अधर्म का क्रीड़ाक्षेत्र बना हुआ है। हां, जो पातक संसर्गजन्य हैं, उनको आजकल बहुत महत्व दिया जा रहा है। जैसे कोई सज्जन यदि विदेशयात्रा करे, तो उसका यह कार्य प्रायश्चित्त के योग्य समझा जाता है। अन्य कुछ पातक हिन्दूसमाज ने इस प्रकार के भी मान रखे हैं, जिनका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है। जैसे, कोई अपने हिन्दूधर्म से धर्मान्तर करके ईसाई या मुसलमान हो जावे, तो हिन्दूसमाज इसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं मानता। फिर चाहे वह विधर्मियों के छल के कारण, बलात्कार के कारण, अथवा भूखों मरने के कारण ही विधर्म में क्यों न गया हो, हिन्दूसमाज में उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है! इसी कारण से इस पवित्र भारतवर्ष में गोभक्षियों की संख्या करोड़ों तक पहुँच गई है। जो लोग हिन्दूधर्म में रहकर गोरक्षक थे, आज अपने समाज की कमजोरी के कारण, करोड़ों की संख्या में गोभक्षक हो रहे हैं। क्या यह हमारे धर्म की कमजोरी है, अथवा समाज की निर्बलता है? हम तो यही कहेंगे कि यह हमारे हिन्दू

धर्म की कमजोरी नहीं है। हिन्दूधर्म एक बहुत ही व्यापक धर्म है; इसमें प्रायश्चित्त की विधि पापों के क्षालन के लिए ही रखी गई है। ऐसा कोई बड़ा से बड़ा पाप भी नहीं है कि, जो हिन्दूधर्म की अग्नितुल्य पवित्रता में भस्म न हो जाये; श्रीमद्भागवतपुराण में लिखा है :—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्द पुक्कसाः।
आभीरकंकायवनाः खशादयः॥
येन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः।
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

श्रीमद्भागवत

जिस ईश्वरीय धर्म का आश्रय करने से किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द पुक्कस, आभीर, कंक, यवन, खश इत्यादि अनार्य और पापी लोग शुद्ध होते हैं, उस परम पवित्र धर्म को नमस्कार है। और सच तो यह है कि इस प्रकार की अनार्य जातियां भी आर्यों से ही उत्पन्न हुई हैं। ये जातियां अनार्य किस प्रकार बन गईं, इसका कारण मनु भगवान् इस प्रकार बतलाते हैं :—

शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः।
वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च॥
पौण्ड्रकाश्चौड्रद्रविडाः काम्बोजा यवनाः शकाः।
पारदापल्हवाश्चीनाः किराता दरदाः खशाः॥

मनु० अ० १०

ये जातियां पहले क्षत्रिय थीं। जब इनके आर्य कर्म-धर्म लोप हो गये, भारतवर्ष के बाहर इधर-उधर के देशों में चले गये; और वहां इनको याजन, अध्यापन और प्रायश्चित्तादि के लिए विद्वान् तपस्वी ब्राह्मण न मिलने लगे, तब धीरे-धीरे अनार्य

हो गईं। वे जातियाँ कौन सी हैं? उनमें से मनु जी ने निम्न-लिखित जातियाँ गिनाई हैं—पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, अपल्हव, चीन, किरात, दरद और खश।

जब भारतवर्ष को छोड़कर, अथवा भारतवर्ष में ही, इन जातियों ने अपने कर्मधर्म छोड़ दिये; और ब्राह्मणों के दर्शन इनको न होने लगे, ब्राह्मण लोगों ने भी इनको छोड़ दिया, अथवा इनसे घृणा करने लगे, तब ये बेचारे वृषलत्व को प्राप्त हो गये। ब्राह्मणों के अदर्शन के कारण जब इनकी यह दुर्गति हुई है, तब क्या ब्राह्मणों के दर्शन से फिर इनकी सद्गति नहीं हो सकती?

म्लेच्छ अथवा मुसलमानों की तरह अन्य जो मलीन जातियाँ हैं, उनकी उत्पत्ति तो हमारे पुराण-ग्रन्थों में बड़ी विचित्र रीति से बतलाई गई है। मत्स्यपुराण में लिखा :—

ममन्थुर्ब्राह्मणास्तस्य बालदेहमकल्मषाः।
तत्कायात् मथ्यमानात्तु निपेतुर्म्लेच्छजातयः॥
शरीरे मातुरंशेन कृष्णाञ्जनसमप्रभाः।

मत्स्यपुराण, अ० १०

उस राजा वेन के शरीर का पवित्र ब्राह्मणों ने मन्थन किया, और उस मन्थन के कारण, माता के अंश से, उस राजा के शरीर से, ये म्लेच्छ जातियाँ उत्पन्न हुईं। काले अञ्जन के समान चमकीला इनका वर्ण था।

श्रीमद्भागवत के चौथे स्कन्ध में भी म्लेच्छ जातियों की उत्पत्ति इसी प्रकार से बतलाई गई है। इससे मालूम होता है कि आर्य क्षत्रिय राजाओं से ही इनकी उत्पत्ति है। आज तो

इन जातियों ने और भी उन्नति कर ली है। इनके रंग ढंग, चाल ढाल में बहुत कुछ सभ्यता दिखाई देती है। खास कर भारतीय मुसल्मानों का रक्त-सम्बन्ध सैकड़ों वर्ष से भारत के आर्यों से है; और इनमें बहुत कुछ आर्यत्व है। भारतीय ईसाई जातियां तो अभी बहुत थोड़े दिन से आर्यच्युत हुई हैं। अतएव उनमें कुछ और भी विशेष सभ्यता दिखाई देती है। यदि भारतवर्ष के तपस्वी विद्वान् ब्राह्मण लोग इन लोगों को बार बार अपने दर्शन दिया करें, इनसे घृणा न करें, इनमें हिलमिल कर अथवा जिस तरह से हो सके, इनको आर्य या हिन्दू-धर्म में फिर ले आवें, तो यह कुछ अनुचित न होगा। जो अपना अंग है, उसको अपने अंग में लेने से संकोच क्यों करना चाहिये?

यह हमारा अंग जो हमसे अलग हो गया है, हमारी लापरवाही के कारण हुआ है। हमने इनको घृणित समझा इनको दूर दूर किया—ये हमसे इतनी दूर हो गये कि जिसका कुछ ठिकाना नहीं। अब यदि हम फिर इनको गले से लगाने को तैयार हों, तो ये फिर, हमारा प्रेम पाकर, हमसे मिल सकते हैं। आठ-नौ करोड़ ईसाई-मुसलमान में से अधिकांश लोग ऐसे ही हैं कि जिनसे हमने घृणा की; और वे हमसे अलग हो गये। कुछ दुष्काल आदि में भूखों मरने के कारण हम से अलग हुए। हमने उनके टुकड़े का बन्दोबस्त नहीं किया। अपने ही इन्द्रियाराम में मस्त रहे। कुछ बलात्कार अथवा बहकाने में आकर, अज्ञानता के कारण, हमसे अलग हुए, क्योंकि हमने उनकी रक्षा नहीं की। उनको लापरवाही से छोड़ दिया। यदि अब हम फिर अपनी उपर्युक्त लापरवाहियों को सुधार लें; और जो आठ नौ करोड़ हमसे अलग हो गये हैं, उनसे घृणा छोड़कर प्रेम-सम्बन्ध स्थापित करें, तो यह कुल्हाड़ी का दण्डा, जो

अपने गोत का ही काल हो रहा है, फिर से अपने गोत की रक्षा करने लगेगा।

इतनी उदारता हमारे धर्म में है, परन्तु आवश्यकता यह है कि हम उदार बनें। हम ऊपर श्रीमद्भागवत का प्रमाण देकर लिख चुके हैं कि हमारे धर्म में वह शक्ति है, वह उदारता है कि वह बड़े-बड़े पतितों को पावन कर सकता है। और आज के पहले हजारों वर्ष का हमारा इतिहास भी साक्षी देता है कि आर्यों के व्यतिरिक्त अन्य आर्येतर म्लेच्छ इत्यादि जातियों को हमने प्रायश्चित्त से शुद्ध किया है। सबसे पहले अत्यन्त प्राचीन तन्त्र-ग्रन्थों का प्रमाण लीजिए। तांत्रिक लोग बड़े कट्टर हिन्दू थे। "महानिर्वाणतन्त्र" में लिखा है :—

अहो पुण्यतमा कौलाः तीर्थरूपाः स्वयं प्रिये।
ये पुनन्त्यामसम्बन्धान् म्लेच्छश्वपचपामरान्॥

महानिर्वाणतंत्र

अहो! ये तांत्रिक लोग कितने पवित्र और पुण्यशील हैं कि, जो म्लेछ, श्वपच, इत्यादि परम पापी लोगों को भी अपने में मिलाकर शुद्ध कर लेते हैं। इसके बाद तांत्रिक सम्प्रदाय की पवित्रता प्रकट करते हुए कहा गया है :—

गंगायां पतिताम्भांसि यान्ति गांगेयतां यथा।
कुलाचारे विशन्तोऽपि सर्वे गच्छति कौलताम्॥

महानिर्वाणतंत्र

जिस प्रकार गंगा में मिला हुआ जल, चाहे जैसा अपवित्र हो, वह पवित्र गंगाजल हो जाता है, उसी प्रकार चाहे जैसे अपवित्र धर्म वाला मनुष्य हो, तांत्रिक लोगों में मिलकर तांत्रिक ही हो जाता है।

यह तो तांत्रिक लोगों का उदाहरण हुआ। इनके सिवाय हिन्दू धर्म के प्रबल रक्षक छत्रपति शिवाजी महाराज और गुरु नानक इत्यादि के समय में भी विधर्मिक को प्रायश्चित्त-द्वारा शुद्धि करने की प्रथा थी। प्रायश्चित्त भी समय समय के अनुसार ऋषियों ने बतलाये हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्मृति में कहते हैं :—

दाने विवाहे यज्ञे च संग्रामे देशविप्लवे।
आपद्यपि च कष्टायां सद्यःशौचं विधीयते॥

याज्ञवल्क्यस्मृति अ० ३

अर्थात् दान में, विवाह में, यज्ञ में, संग्राम में, देशविप्लव में, कष्टदायक आपत्ति के समय सद्यःशौच का विधान है। जैसे आज कल का समय है। यह हमारे देश के विप्लव का समय है; और हमारी जाति पर एक प्रकार से बड़ी भारी आपत्ति आई हुई है। इस समय शुद्धि के लिए भी हमको कठोर प्रायश्चित्तों के व्यवहार करने की आवश्यकता नहीं है। इस समय तो हमको यही देखना चाहिए कि हमारे धर्म की कोई स्त्री अथवा पुरुष, किसी भी कारण-विशेष से, परधर्म में चला गया है, तो उसका वहाँ से छुटकारा करके, उसको 'सद्यःशौच' का प्रायश्चित्त करा कर, तुरन्त उसको शुद्ध कर लेना चाहिये। हाँ, महर्षि मनु के कथनानुसार उसको अपने कार्य पर पश्चात्ताप अवश्य होना चाहिए कि हमने अपना धर्म छोड़ कर बहुत बुरा कार्य किया; और परमात्मा अब हम से ऐसा कभी न करावे। परन्तु यह पश्चात्ताप का प्रायश्चित्त भी उन लोगों के लिए है कि जो जान-बूझकर स्वधर्म का त्याग करते हैं; परन्तु जो अज्ञान से, अथवा बलात्कार से स्वधर्म छोड़ने के लिए बाध्य किये जाते हैं, वे तो

अत्यन्त दया के पात्र हैं। उनकी शुद्धि करने के लिये प्रायश्चित्त की भी आवश्यकता नहीं है; क्योंकि उनका मन स्वधर्म के विषय में कभी अशुद्ध नहीं हुआ था। बालकों और स्त्रियों के उदाहरण इसी प्रकार के हैं। स्त्रियों को तो मनु महाराज ने सर्वथा शुद्ध माना है; और नीच कुल से भी शीलवती स्त्री को धर्म-पूर्वक ग्रहण करने आज्ञा दी है :—

श्रद्दधानः शुभां विद्यामाददीतावरादपि।
अन्त्यादपि परं धर्मं स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपि॥
विषादप्यमृतं ग्राह्यं बालादपि सुभाषितम्।
अमित्रादपि सद्वृत्तममेध्यादपि काञ्चनम्॥
स्त्रियोरत्नान्यथो विद्याधर्मः शौचं सुभाषितम्।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः॥

मनु० अ० २

अर्थात् उत्तम विद्या नीच के पास हो, तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर लेना चाहिए। उत्तम धर्म शूद्र से भी श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए; और स्त्री रत्न चाहे बुरे कुल में भी हो, तो भी उसे श्रद्धापूर्वक ग्रहण करना चाहिए। विष से भी अमृत ले लेना चाहिए। बालक के भी शिक्षादायक वचन ग्राह्य हैं। अच्छा चालचलन यदि शत्रु में भी हो तो उसे लेना चाहिए। सुवर्ण नापाक जगह से भी उठा लेना चाहिए। इसी प्रकार स्त्री, रत्न, विद्या, धर्म, पवित्रता, अच्छे वचन, और अनेक प्रकार की शिल्प विद्या सब जगह से, जहाँ से मिले, वहीं से ले लेना चाहिए।

मनुमहाराज के इन वचनों से स्पष्ट है कि स्त्री, चाहे जितने नीच कुल में हो; परन्तु यदि वह स्वैरिणी व्यभिचारिणी नहीं है, तो उसे अवश्य ग्रहण कर लेना चाहिए। परन्तु उसे धर्म-पूर्वक ग्रहण करना चाहिए। अधर्म से नहीं। धर्मपूर्वक विधि

स्त्री को भी ग्रहण करके हम पवित्र आचरण के संसर्ग से उसे धर्मात्मा बना सकते हैं। तप और सदाचार में बहुत बड़ी शक्ति है। महर्षि पराशर ने राजा जनक से कहा है :—

राजन्नैतद्भवेद् ग्राह्यमपकृष्टेन जन्मना।
महात्मना समुत्पत्तिः तपसः भावितात्मनाम्॥

महाभारत, शान्तिपर्व अ० २९६

अर्थात् हे राजन् नीच कुल में जन्म पाने पर भी तप से उच्चत्व प्राप्त हो सकता है। कई लोग कहेंगे कि यह सतयुग की बात है। आजकल ऐसा नहीं हो सकता। परन्तु ऐसी बात नहीं है, तप और वीर्य का प्रभाव सदा-सर्वदा वैसा ही रहता है। महर्षि मनु कहते हैं :—

तपोबीज प्रभावैस्तु ते गच्छन्ति युगे युगे।
उत्कर्षं चापकर्षं च मनुष्येष्विह जन्मतः॥

मनु०, अध्याय १०।४२

अर्थात् तपप्रभाव से और बीजप्रभाव से प्रत्येक युग में मनुष्य जन्म की उच्चता और नीचता को प्राप्त होते हैं।

सारांश यह है कि जिस प्रकार से तपस्वी विद्वान् ब्राह्मण अपने संसर्ग से नीच कुल की विधर्मी स्त्री को भी पवित्र कर सकता है, उसी प्रकार वह अपने वीर्य से उसके द्वारा उत्तम उच्च कुल की सन्तति भी उत्पन्न कर सकता है। इस विषय में मनुजी ने एक जगह और भी कहा है :—

जातोनार्यामनार्यायामार्यादार्यो भवेद्गुणैः।

मनु०, अ० १०

अर्थात् अनार्या स्त्री में आर्य पुरुष से उत्पन्न हुआ पुत्र गुणों से आर्य ही होगा। वीर्यप्रधान सदैव ही रहता है। ऐसी दशा में

आर्य (हिन्दू) लोगों को अनार्य (आर्येतर) जाति की स्त्रियों को ग्रहण करने में अब कोई लज्जा या संकोच न करना चाहिये। हम लोगों को मनु इत्यादि अपने शास्त्रकारों की आज्ञा के अनुकूल आचरण करना चाहिए।

इसी प्रकार विधर्मी बालकों को भी हम ग्रहण कर के अपने धर्म में मिला सकते हैं। जो दूसरे धर्म के बालक हैं, अथवा अपने धर्म से अभी हाल में पतित होकर व्रात्य हो गये हैं, उनको हम फिर व्यवहार्य बना सकते हैं। पारस्कर गृह्यसूत्र का वचन है :—

तेषां संस्कारेप्सवो व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा काममधीयीरन्। व्यवहार्यो भवतीति वचनात् ॥४३॥

पारस्कर गृह्यसूत्रम् २।५

जो बालक पतित हो गये हैं, उनको व्रात्यस्तोमयज्ञ करा कर हम अध्ययन इत्यादि में लगाकर व्यवहार्य बना सकते हैं। परन्तु इस समय तो देश के ऊपर महाभयंकर अनिष्ट आया हुआ है, इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य की व्यस्था के अनुसार सिर्फ "सद्यःशौच" ही एक बड़ा भारी साधन है। यज्ञ इत्यादि की झंझट इस समय नहीं हो सकती। याज्ञवल्क्यस्मृति में शुद्धि के साधन और भी एक जगह लिखे हुए हैं। इनके अनुसार आचरण करना चाहिए :—

कालोऽग्निः कर्ममृद् वायुः मानो ज्ञानं तपो जलम्।
पाश्चात्तापो निराहारः सर्वेऽमी शुद्धिहेतवः॥

याज्ञवल्क्यस्मृति, अ० ३

अर्थात् काल अग्नि, कर्म; मिट्टी वायु, मन, ज्ञान, तप, जल, पश्चात्ताप, निराहार, ये सब शुद्धि के साधन हैं।

मतलब यह है कि जिसकी शुद्धि करनी हो, उसको उसकी शक्ति के अनुसार निराहार व्रत करवा सकते हैं, पश्चात्ताप उसको स्वयं ही होगा; और यदि उसको पूर्ण पश्चात्ताप है, तो फिर सनुर्जा के अनुसार उसको दूसरे साधन की आवश्यकता ही नहीं। जल, गङ्गाजल इत्यादि छिड़ककर अथवा नहला कर शुद्ध कर सकते हैं, शक्ति-अनुसार तप का विधान कर सकते हैं। विद्याभ्यास इत्यादि कराकर उसको ज्ञान दे सकते हैं। मन पश्चात्ताप से स्वयं ही शुद्ध होगा। शुद्ध पवित्र तीर्थस्थान की वायु, मिट्टी, वालुका, इत्यादि का देश-काल के अनुसार उपयोग कर सकते हैं। अभ्यास के द्वारा उसके कर्म या आचरण बदल सकते हैं। अग्नि-पूजा, हवन इत्यादि उससे करा सकते हैं। काल, समयानुसार वह स्वयं शुद्ध हो सकता है, चाहे और कोई साधन न किये जायँ, इत्यादि। सारांश यही है कि शुद्धि के लिए देशकालानुसार प्रायश्चित्त कराना ऋषियों को सम्मत है।

यह प्रायश्चित्त और शुद्धि का वर्णन किया गया। सबको विवेकपूर्वक इस पर आचरण करना चाहिये।

अहिंसा

मन, वचन, कर्म से किसी निरपराध प्राणी को कष्ट देना हिंसा कहलाता है, और इसके विपरीत कर्म को अहिंसा समझना चाहिए :—

अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहस्य दानं च सतां धर्मः सनातनः ॥

महाभारत, वनपर्व

मन, वचन, कर्म से सब प्राणियों के साथ अद्रोह अर्थात् मैत्री रखना, उन पर दया करना और उनको सब प्रकार सुख देना—यही सज्जनों का सनातन धर्म है। इसी को "परम धर्म अहिंसा" कहना चाहिए।

जो मनुष्य दूसरों को वाणी से कष्ट पहुँचाते हैं, अर्थात् किसी की निन्दा, चुगली करते हैं, अथवा कठोर वचन बोलते हैं वे मानो वाणी से हिंसा का आचरण करते हैं, जो मन से किसी का अकल्याण चाहते हैं, मत्सर करते हैं, वे मन से हिंसा करते हैं, और जो हाथ से किसी को मारते हैं अथवा वध करते है वे कर्म से हिंसा करते है। यह तीनों प्रकार की हिंसा त्याज्य है। हिंसा से मनुष्य में क्रूरता आती है, उसके मन के सद्भाव नष्ट होते हैं, पाप बढ़ता है; और उसको इस लोक तथा परलोक में शान्ति नहीं मिलती। इसके विरुद्ध जो सब पर दया रखता है, किसी को कष्ट नहीं देता, वह स्वयं भी सुखी रहता है :—

अधृष्य सर्वभूतानामायुष्मान्नीरुजः सुखी ।
भवत्यभक्षयन्मांसं दयावान् प्राणिनामिह ॥

महाभारत अनुशासनपर्व

जो सब प्राणियों पर दया करता है; और मांसभक्षण कभी नहीं करता, वह किसी प्राणी से स्वयं भी नहीं डरता, दीर्घायु होता है, आरोग्य होता है; और सुखी होता है। भगवान मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि—

यो बन्धनवधक्लेशान्प्राणिना न चिकीर्षति।
स सर्वस्यहितप्रप्सुः सुखमत्यन्तमश्नुते॥
यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किंचन॥

मनु० अ० ५

जो मनुष्य किसी भी प्राणी को, बन्धन या वध इत्यादि किसी प्रकार से भी, क्लेश देना नहीं चाहता, वह सब का हितचिन्तक मनुष्य अनन्त सुख को प्राप्त होता है। ऐसा मनुष्य जो कुछ सोचता है, जो कुछ करता है, और जिस कार्य में धैर्य से लग जाता है, सब में उसको अनायास ही सफलता होती है; क्योंकि वह किसी प्राणी को भी कभी किसी प्रकार कष्ट देने की इच्छा ही नहीं करता, तब फिर उसको कष्ट क्यों होगा? सब प्राणियों पर वह प्रेम करता है, सब प्राणी उस पर प्रेम करते है, और सब प्राणियो का स्वामी परमात्मा भी उस पर प्रसन्न रहता है। ऐसी दशा में उसको सिद्धि धरी-धराई है। वह सब जीव परमात्मा के ही समझता है, अपने सुख के लिए किसी पर भेद-भाव नहीं रखता, और न किसी को निर्दयता से मारता है। किसी कवि ने कहा है:—

दया कौन पर कीजिए, का पर निर्दय होय।
साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय॥

किस पर दया करे, और किस पर निर्दय हों, सब जीव

परमात्मा के हैं—चाहे चीटी हो, और चाहे हाथी। जब ऐसी दशा है, तब अपने उदर की पूर्ति के लिए—मांस-भक्षण के लिए—जीवों की हत्या करना कितना बड़ा पाप है। ऐसे मनुष्यों को सुख कभी नहीं मिल सकता :—

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते॥

मनु०, अ० ५

जो अहिंसक अर्थात् निरपराध प्राणियों को अपने सुख के लिए कष्ट देता अथवा उनका वध करता है, वह न इस जन्म में जीवित रहते हुए, और न मरने पर ही, सुख को पा सकता है।

कई मांसभक्षी लोग कहते हैं कि, हम स्वयं नहीं मारते हैं—हम तो सिर्फ दूसरे का मारा हुआ मांस खाते हैं, हमको कोई दोष नहीं लग सकता, परन्तु ऐसे लोगों को विचार करना चाहिए कि यदि वे लोग मांस खाना छोड़ दें तो जीवों के मारने की कोई आवश्यकता ही न रहे। वास्तव में मारनेवाले से खाने वाले को ही अधिक पाप लगता है। मनु महाराज ने आठ घातक माने हैं :—

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपहर्त्ता च खादकश्चेति घातकः॥

मनु० अ० ५

१ जिसकी सम्मति से मारते हैं, २ जो अंगों को काट कर अलग अलग करता है; ३ जो मारता है, ४ जो खरीदता है, ५ जो बेचता है, ६ जो पकाता है, ७ जो परोसता है, और जो खाता है—ये आठों घातक हैं। इन सब को हत्या का पाप लगता है। सब से अधिक खाने वाले को लगता है; क्योंकि उसी के कारण ये सब क्रियायें होती हैं।

मांसभक्षण में दोष क्यों है ? क्योंकि इससे दया की हानि है। जिस प्राणी का मांस हम खाते हैं, उसको कष्ट देकर हम अपने उदर की पूर्ति कर रहे हैं। जब हमारे उदर की पूर्ति, किसी जीव की हत्या किये बिना ही, अन्य पदार्थों से हो सकती है, तब किसी को मारने की क्या आवश्यकता; क्योंकि जीव को मारते समय जो कष्ट होता है, वैसा कष्ट और कभी नहीं होता। अपना जीव सब को प्यारा होता है। जैसा अपना जीव समझना चाहिए वैसा ही दूसरे का भी समझना चाहिए; क्योंकि प्राण-धारण में सुख और प्राणत्याग के समय दुःख सब जीवों को बराबर ही होता है। जो लोग दूसरे का गला काट कर अथवा कटवाकर माँस खाते है, वे कभी नहीं चाहेंगे कि कोई उनका गला काटकर अथवा कटवाकर खा जाय। जैसा अपना सुखदुःख वैसा ही अन्य प्राणियों का भी सुख-दुःख समझना चाहिए :—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन मन्तव्य बुद्धिमद्भिः कृतात्मभिः॥

महाभारत, अनुशासनपर्व

जिस प्रकार हमको अपने प्राण प्यारे हैं, वैसे ही अन्य प्राणियों का भी अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए बुद्धिमान और विचारशील मनुष्यों को अपने ही समान सबको समझना चाहिए :—

सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते, सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न हि श्रद्दधानः॥

सभी प्राणी सुख से सुखी और दुःखजन्य भय से कष्टित होते हैं, इसलिए ऐसा कोई कार्य न करना चाहिए कि जिससे

प्राणियों को भयजन्य दुख हो। सारांश यह है कि मांस भक्षण से प्राणियों को कष्ट होता है; और कष्ट किसी के लिए भी अभीष्ट नहीं है। इसी लिए मांस भक्षण दोष है :—

समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम।
प्रसमीक्ष्य निवर्त्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात्॥

मनु, अ० ५

प्राणियों के वध और बन्ध से मांस की उत्पत्ति देखकर—अर्थात् उनपर दया करके—सब प्रकार के मांस भक्षण से बचना चाहिये। पुनश्च :—

न हि मांसं तृणात्काष्ठादुपलाद्वाऽपि जायते।
हत्वा जन्तुं ततो मांसं तस्माद्दोषस्तु भक्षणे॥

मांस, तृण, काठ अथवा पत्थर से उत्पन्न नहीं होता, जीवों के मारने से मिलता है; और इसी लिए इसके भक्षण में दोष है।

कई लोग यज्ञ के नाम पर अथवा देवी देवताओं के नाम पर निरपराध पशुओं का बलिदान करके मांस का सेवन करते हैं; और इसको धर्म समझते हैं। यह और भी बड़ा भारी पाप है—अर्थात् मांसभक्षण के दोष को छिपाने के लिए ये लोग ऊपर से धर्म का आवरण चढ़ाते हैं। ऐसे पापियों के लिए कूर्मपुराण में कहा है :—

प्राणिघातात्तु यो धर्ममीहते मूढमानसः।
स वांछति सुधावृष्टिं कृष्णाहिमुखकोटरात्॥

कूर्मपुराण।

अर्थात् जो मूढ़ मनुष्य प्राणियों का वध करके धर्म की इच्छा करते हैं, वे मानो काले सर्प के मुख कोटर से अमृत की वर्षा

चाहते हैं। अरे! जहाँ जहर है, वहाँ से अमृत कैसे मिल सकता है? जिसको सब शास्त्रों ने अधर्म माना है वहाँ से धर्म कैसे प्राप्त हो सकता है। चाहे कोई भी धर्म हो, अहिंसा को सभी जगह धर्मशास्त्रकारों ने प्रतिष्ठित किया है :--

सर्वकर्मस्वहिंसा हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत् ।
कामकाराद्विहिंसन्ति वहिर्वेद्यां पशून्नराः ॥

महाभारत, मोक्षपर्व ।

धर्मात्मा मनु ने सब धर्म-कर्मों में अहिंसा ही की स्थापना की है; परन्तु लोग अपनी इच्छा से शास्त्रविरुद्ध, यज्ञ की वेदी (अथवा देवी-देवताओं) पर पशुओं की हिंसा करते हैं।

इससे सिद्ध है कि निरपराध और अहिंसक प्राणियों की हिंसा करना सब प्रकार से निन्दित कर्म है। यह अहिंसा का एक अंग हुआ। इसके अतिरिक्त अहिंसा का एक दूसरा अंग भी है :—

केवल हिंसा से निवृत्त रहने में ही अहिंसा पूरी नहीं होती; बल्कि यदि कोई हिंसा करता हो, किसी दूसरे प्राणी को यदि कोई किसी प्रकार से भी सताता हो; अथवा उसका वध करता हो, तो उस पीड़ित प्राणी पर दया करना और उसको उस अत्याचार से बचाना – यह अहिंसा का दूसरा अंग है। इसका नाम है—अभय-दान अभयदान वही दे सकता है जो स्वयं निर्भय हो; और दूसरे का दुःख देखकर जिसके दिल में दया का स्रोत उमड़ आता हो—यही पूर्ण साधु का लक्षण है। चाणक्य मुनि ने कहा है :—

यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु ।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः ॥

चाणक्यनीति

पीड़ित प्राणियों की पीड़ा देखकर दया से जिसका दिल द्रवीभूत हो जाता है, उसको ज्ञान से, मोक्ष से, जटा बढ़ाने से और भस्मलेपन इत्यादि से क्या काम ? वह तो स्वयंसिद्ध साधु है। किसी कवि ने इसी प्रकार के अहिंसाव्रती सत्पुरुष की प्रशंसा करते हुए लिखा है :—

प्राणानां परिरक्षणाय सततं सर्वाः क्रियाः प्राणिनाम्।
प्राणे योऽप्यधिकं समस्तजगतां नास्त्येव किंचित्प्रियम् ॥
पुण्यं तस्य न शक्यते गणयितुं यः पूर्णं कारुण्यवान् ।
प्राणानामभयं ददाति सुकृती येषामहिंसाव्रतः ॥

संसार में सब प्राणियों के रात-दिन, जितने कार्य होते हैं, सब प्राणों की रक्षा के लिए ही होते हैं। प्राणों से अधिक संसार में और कोई भी चीज प्यारी नहीं है। ऐसी दशा में जिसके हृदय में पूर्ण दया बसती है; और जो सज्जन पुरुष, सदैव अहिंसाव्रत का धारण करते हुए, दूसरे प्राणियों को प्राणों का अभयदान दिया करते हैं, वही बड़े भारी पुण्यात्मा हैं—ऐसे सत्पुरुषों के पुण्य की गणना नहीं की जा सकती।

अहिंसा के ये दोनों अंग तो सब मनुष्यों के लिए सर्वसाधारण हैं; पर क्षत्रियों के लिए एक प्रकार की हिंसा भी बतलाई गई है, और उस हिंसा का पातक उनको नहीं लगता है। प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। इसलिए यदि कोई हिंसक प्राणी, सिंह-व्याघ्रादि, जंगल से आकर बस्ती में उपद्रव करते हों, अथवा जंगल में ही प्रजा को सताते हों, तो उनकी हिंसा करना वेदविहित है। अथवा कोई आततायी मनुष्य प्रजा को पीड़ित करते हों, तो उनका भी तत्काल वध करना चाहिए। आततायी मनुष्य कौन है, इस विषय में मनु महाराज कहते हैं :—

अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः ।
क्षेत्रदारहश्चैव षडेते ह्याततायिनः ॥

मनु० अ० ५

जो मनुष्य आग लगाकर दूसरे का घरद्वार अथवा खेतखलि-यान फूँक देता है, किसी को जहर दे देता है; हथियार लेकर किसी को मारने दौड़ता है, चोरी-डकैती इत्यादि के द्वारा किसी का धन अपहरण करता है, किसी का खेत छीन लेता है, अथवा तीर्थक्षेत्रों और मन्दिर आदि धर्मक्षेत्रों को नष्ट-भ्रष्ट करता है, दूसरे की स्त्री का हरण करता है, ये छै भारी दुष्ट आततायी कहलाते हैं। इनका, अथवा इसी प्रकार के अन्य हिंसापूर्ण कर्म करनेवाले लोगों का तत्काल, बिना सोचे-विचारे, वध करना चाहिए :—

आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन् ।

मनु०, अ० ८ श्लो० ३१०

नाततायिवधे दोषो०

मनु०; अ० ८, श्लो० ३५१

इनको मारने में पाप नहीं है, क्योंकि वे स्वयं क्रोध में आकर प्रजा की हिंसा करना चाहते हैं। बहुतों की हिंसा बचाने के लिए यदि एक की हिंसा करनी पड़े, तो यह वेदविहित हिंसा है; और इसी को "वैदिकी हिंसा" कहते हैं—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति—अर्थात् वेदविहित हिंसा हिंसा नहीं है—वह अहिंसा ही है :—

या वेदविहिता हिंसा नियतास्मिंश्चराचरे ।
अहिंसामेव तां विद्याद्वेदाद्धर्मो हि निर्बभौ ॥

मनु० अ० ८

अर्थात् इस जगत् में जो वेदविहित हिंसा चराचर में नियत है, उसको अहिंसा ही जानना चाहिए; क्योंकि वेद धर्म का ही विधान करता है (अधर्म का नहीं)।

सारांश यह है कि दुष्ट और हिंसक प्राणियों से प्रजा की रक्षा करना क्षत्रियों का अत्यन्त महत्वपूर्ण अहिंसाधर्म है। यदि क्षत्रिय या राजा इस कार्य में प्रमाद करें, तो प्रजा को स्वयं बन्दोबस्त करना चाहिए।

अहिंसा का जो वर्णन ऊपर किया गया है, उसका आचरण करनेवाला मनुष्य ही पूर्ण धर्मात्मा है; क्योंकि अहिंसा परम धर्म है।

गोरक्षा

गोरक्षा हिन्दूधर्म का मुख्य अंग है। गौओं से ही हमारा धर्म और हमारा देश है। यदि हमारे देश और धर्म से गौ अलग हो जाय, तो कुछ रह नहीं जाता। गौ से ही हमारा जीवन और हमारा प्राण है। ऋषियों ने कहा है :—

गावो लक्ष्म्याः सदा मूल गोषु पाप्मा न विद्यते।
गावो यज्ञस्य नेत्र्यो वै तथा यज्ञस्य ता मुखम्॥

अर्थात् गौएं ही हमारी सारी सम्पत्ति की जड़ हैं, जहाँ गौएं हैं, वहां पाप नहीं है; गौएं ही हमारे सब सत्कर्मों का कारण हैं; और सारे सत्कर्म गौओं में ही जाकर समाप्त हो जाते हैं। गौ यदि न हो तो हमारा कोई कार-व्यापार चल नहीं सकता; और गौओं से उत्पन्न किये हुए पदार्थ यदि हमारे पास न हों

तो हम कोई धर्म-कर्म नहीं कर सकते । हमारे सब सत्कार्य गौ से ही सिद्ध होते हैं । इसलिये गोरक्षा हिन्दू धर्म का प्राण है ।

आज-कल जब हम अपने देश की गौओं की दशा देखते हैं, तब हमारा कलेजा दहल जाता है । दिन पर दिन गोवंश का नाश हो रहा है । पहले भारतवर्ष में गौओं की संख्या १२।१४ करोड़ तक थी, पर इस समय सिर्फ तीन करोड़ शेष रह गई है । दिन पर दिन गोवंश का संहार हो रहा है । हाय! जिस देश के निवासियों का यह आदर्श था कि—

गावो मे अग्रतः सन्तु गावो मे सन्तु पृष्ठतः ।
गावो मे हृदये सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥

गौवें हमारे आगे हों, गौवें हमारे पीछे हों; गौवें हमारे हृदय में हों; और गौओं ही के बीच में हमारा निवास हो—जिस देश के निवासी राजन्यगण तक एक गौ के लिए अपना प्राण तक देने को तैयार हो जाते थे, और जिस देश में राजा दिलीप के समान चक्रवर्ती राजा एक हिंस्र पशु से गौ की रक्षा करने के लिए अपना शरीर देने को तैयार हो गये थे, जिस देश के राजा और ऋषि स्वयं जंगल जंगल भटककर गौओं का चराना पसन्द करते थे, उसी देश में हमारी आँखो देखते कसाईखानों में सैकड़ों गौवें रोज मारी जाती हैं, और हम गौरक्षा के लिए बिलकुल असमर्थ हो रहे हैं ! यही हमारे अधःपात का मुख्य कारण है । जिस दिन से गो हत्यारों को हमने अपने देश में लिया, उसी दिन से हमारा नाश प्रारम्भ हो गया। और आज हम स्वयं गौओं की समुचित रूप से रक्षा न करते हुए गोहत्या में सहायक हो रहे हैं । परमपिता परमात्मा ने हम को आज्ञा दे रखी है :—

आरे ते गोघ्नमुत पूरुषघ्नम् ।

—ऋग्वेद ।

गोहत्यारों और मनुष्य-हत्यारों को सदैव दूर रखो ; पर हमने इस पर अमल नहीं किया; और उसी का कड़ुआ फल आज भोग रहे हैं; परन्तु अब भी अवसर है—अभी तीन करोड़ गौएं हमारे देश में शेष हैं—इनकी रक्षा करके यदि हम चाहें, तो अपने देश और धर्म को रसातल जाने से बचा सकते हैं। इसलिए प्रत्येक हिन्दू को गौओं की रक्षा के लिए कटिबद्ध हो जाना चाहिए।

गोरक्षा हम किन-किन साधनों से कर सकते हैं, यहाँ पर उनका वर्णन करने के लिए स्थान नहीं है। इस विषय पर देश में इस समय काफी चर्चा हो रही है। परन्तु यदि प्रत्येक हिन्दू पहिले की भांति गौ को बचाना पाप समझे, सांड़ों के छोड़ने की प्रणाली फिर से जारी की जाय; और उन सांड़ों की रक्षा का भी पूर्ण प्रबन्ध किया जाय, तथा गोवंश के चरने के लिए जमींदार और राजा लोग अपनी कुछ भूमि को छोड़ दिया करें, एवं गोपालक लोग गौओं के रोगों का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त कर के उनकी आरोग्यता बढ़ाते रहें, तो भारत में गौओं के वंश की वृद्धि फिर भी हो सकती है। प्राचीन काल में हमारे देश के बड़े बड़े राजकुमार तक गोपालन-विद्या जानते थे। पांडवों ने जब राजा विराट के यहाँ अज्ञातवास स्वीकार किया था, तब धर्मराज युधिष्ठर के सब से छोटे भाई राजकुमार सहदेव ने, महाराज विराट के यहाँ जाकर, तन्तिपाल के नाम से अपने गुणों का परिचय इस प्रकार दिया था :—

क्षिप्रं च गावो बहुला भवन्ति न तासु रोगो भवतीह कश्चन् ।
तैस्तैरुपायैर्विदितं ममै तद् एतानि शिल्पानि मयि स्थितानि ॥

महाभारत, विराटपर्व

गौओं की रक्षा और पालन के मुझे ऐसे ऐसे उपाय मालूम हैं कि जिनसे बहुत जल्द गौओं की वृद्धि हो जाती है; और उनको किसी प्रकार के रोग नहीं होने पाते। फिर उन्होंने उत्तम सांड़ों के अपने परीक्षण-कौशल को बतलाते हुए कहा :—

ऋषभांश्चापि जानामि राजन् पूजितलक्षणान्।
येषां मूत्रमुपाघ्राय अपि वन्ध्या प्रसूयते॥

महाभारत, विराटपर्व

इसके सिवाय हे राजन्, सांड़ों की उत्तम उत्तम जातियाँ भी हम ऐसी जानते हैं कि जिनका सिर्फ मूत्र मात्र ही सूंघकर बड़ी बड़ी बन्ध्या गौएं भी बच्चा दे सकती हैं।

कहाँ भारतवर्ष के राजकुमारों को भी गोपालन की इतनी शिक्षा दी जाती थी, और कहां आज हम गोपालन में इतनी उदासीनता दिखला रहे हैं! कुछ ठिकाना है!

अब प्रत्येक हिन्दूधर्मानुयायी को गोपालन और गोरक्षण के लिए जागृत हो जाना चाहिए; और गौ को किसी दूसरे मनुष्य के हाथ बेचना तथा अपात्र को गौ का दान देना पाप समझना चाहिए।



चौथा खण्ड

दिनचर्या

दिनचर्यां निशाचर्यां ऋतुचर्यां यथोदिताम्।
आचारन्पुरुषः स्वस्थः सदा तिष्ठति नान्यथ॥

—भावप्रकाश।

ब्राह्ममुहूर्त

रात को ठीक समय पर सोने और सबेरे ठीक समय पर उठने पर ही मनुष्य के जीवन की सारी सफलता है। संसार में जितने भी महापुरुष, ऋषि-मुनि, पंडित, धनवान्, धर्मात्मा और देश-भक्त हुए हैं, अथवा इस समय मौजूद हैं, वे सब प्रातःकाल स्वयं उठते रहे हैं; और उठते हैं। तथा ऐसा ही उनका उपदेश भी है। मनुजी इस विषय में लिखते हैं :—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्।
कायक्लेशांश्च तन्मूलान् वेदतत्वार्थमेव च ॥

मनु०

अर्थात् ब्रह्ममुहूर्त में उठकर धर्म और अर्थ का चिन्तन करे। शरीर में यदि कोई कष्ट हो, तो उसके कारण को सोचे; और 'वेदतत्वार्थ' अर्थात् परमेश्वर का ध्यान करे।

'ब्राह्ममुहूर्त' चार घड़ी तड़के लगता है, जब कि पूर्व की ओर क्षितिज में सूर्य की थोड़ी थोड़ी लाल आभा दिखाई देती है; और दो चार नक्षत्र भी आकाश में दिखाई देते रहते हैं। यही उठने का ठीक समय है। इसको अमृतबेला भी कहते हैं। जो मनुष्य अपने जीवन में इस बेला को साध लेता है; उसके अमर होने में कोई सन्देह नहीं। अर्थात् वह अपनी पूरी आयु भोग करके अपने सत्कार्यों से संसार में अजरामर हो जाता है।

निद्रा का विश्राम लेकर जब प्रातःकाल ब्रह्ममुहूर्त में मनुष्य उठता है, तब उसकी सब इन्द्रियाँ और बुद्धि स्वच्छ और ताजी हो जाती हैं। उस समय वह जो कार्य प्रारम्भ करता है, दिन

भर उसमें सफलता ही होती है; और प्रातःकाल उठनेवाले मनुष्य को समय भी खूब मिलता है। जो लोग सूर्य उदय होने तक सोते रहते हैं, उनकी बुद्धि और इन्द्रियाँ मन्द पड़ जाती हैं, शरीर में आलस्य भर जाता है, उनका चेहरा फीका पड़ जाता है। तेज जाता रहता है, और चेहरे पर मुर्दनी-सी छाई रहती है। दिन भर जो कुछ काम वे करते हैं, उसमें उनको उत्साह नहीं रहता; और न किसी कार्य में सफलता ही होती है। अतएव सुबह देर से उठनेवाला मनुष्य सदैव दरिद्री रहता है। किसी कवि ने ठीक ही कहा है :—

कुचैलिनं दन्तमलावधारिणं।
बह्वाशिनं नित्यकठोरभाषिणं॥
सूर्योदये चास्तमये च शायिनम्।
विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम्॥

अर्थात् जिनके शरीर और वस्त्र मैले रहते हैं, दाँतों पर मैल जमा रहता है, बहुत अधिक भोजन कर लेते हैं; और सदैव कठोर वचन बोलते रहते हैं तथा जो सूर्य के उदय और अस्त के समय सोते हैं, वे महा दरिद्री होते हैं—यहाँ तक कि चाहे 'चक्रपाणि'* अर्थात् बड़े भारी सौभाग्यशाली लक्ष्मी-धर विष्णु ही क्यों न हों, परन्तु उनको भी लक्ष्मी छोड़ जाती है। इसलिये सूर्योदय तक सोते रहना बहुत हानिकारक है।

अस्तु। अब यह देखना चाहिये कि प्रातःकाल खूब तड़के उठकर मनुष्य क्या करे। मनुजी ने उपर्युक्त श्लोक में कहा है

* यहाँ 'चक्रपाणि' शब्द में कवि ने श्लेष रखा है। इसके दो अर्थ हैं। अर्थात् सामुद्रिक के अनुसार जिसके हाथ में दस चक्र होते हैं, वह राजा होता है, और दूसरा अर्थ, चक्र धारण करनेवाले विष्णु।

कि पहले धर्म का चिन्तन करे—अर्थात् अपने मन में परमात्मा का ध्यान करके यह निश्चय करे कि हमारे हाथ से दिन भर सब कार्य धर्मपूर्वक ही हों, कोई कार्य अधर्म अथवा अन्याय का न हो, जिससे हमको अथवा दूसरे किसी को दुःख हो। अर्थ के चिन्तन से यह मतलब है कि हम दिन भर उद्योग करके सच्चाई के साथ धन उत्पन्न करें, जिससे स्वयं सुखी रहें; और परोपकार कर सकें। शरीर के कष्ट और उनके कारणों का चिन्तन इसलिए करें कि जिससे आरोग्य रहें, क्योंकि आरोग्यता ही सब धर्मों का मूल है। कहा भी है कि,

शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्

फिर सब वेदों का सार जो ओंकार परमात्मा है, उसका ध्यान करे; क्योंकि वही सब में रम रहा है; और सारा संसार उसमें रम रहा है। वही हमारे सब कर्मों को देखनेवाला और हमारा साक्षी है।

प्रायः प्राचीन लोगों में यह चाल देखी जाती है कि प्रातः-काल उठकर परमात्मा का स्मरण करते हुए पहले अपनी हथेली का दर्शन करके उसको चूमते हैं, और साथ ही यह श्लोक भी पढ़ते हैं :—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

इसका भी तात्पर्य वही है, जो मनु महाराज ने बतलाया है। प्रातःकाल कर दर्शन इसीलिए किया जाता है, जिससे दिन भर हमारे हाथ से शुभ कर्म हों। ऊपर के श्लोक में हथेली में तीन देवताओं का वास बतलाया है। हथेली के आगे लक्ष्मी, जो द्रव्य का देवता है; हथेली के बीच में सरस्वती, जो विद्या

का देवता है ; और हथेली के पीछे ब्रह्मा, जो बलवीर्य और उत्पत्ति का देवता है। सारांश यही है कि सुबह उठकर मनुष्य को परमात्मा का चिन्तन करते हुए अपने दिन भर के उन कार्यों का विचार करना चाहिये कि जो हमारे चारों पुरुषार्थों—अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष से सम्बन्ध रखते हैं। इसका विचार करने के बाद तब चारपाई से कदम नीचे रखना चाहिये। जब हम चारपाई से नीचे पैर रखते हैं, तब धरती पर हमारा पैर पड़ता है। धरती हम सब की माता है। इसी ने हमको, मां के पेट से नीचे गिरने पर, अपनी गोद में लिया है। इसी पर हम खेले खाये और बड़े हुए हैं। यही हमको नाना प्रकार के फल-फूल, अन्न देकर हमारा पालन करती है ; और अन्त में—मृत्यु समय भी—हमें यही अपनी गोद में विश्राम देती है। इसलिए हमारे बड़े-बूढ़े लोग सुबह जब चारपाई से पैर नीचे रखते हैं, तब यह श्लोक कहकर धरती माता को भी नमस्कार करते हैं; और पैर रखने के लिए क्षमा माँगते हैं :—

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमडले।
विष्णुपत्नी नमस्तुभ्य पादस्पर्श क्षमस्व मे।

अर्थात् हे देवी, समुद्र ही तुम्हारी साड़ी है; और पर्वत तुम्हारे स्तनमण्डल हैं, तुम विष्णु अर्थात् सब के पालन करनेवाले भगवान् की पत्नी हो, अतएव हमारी माता हो, अब हम जो तुम्हारे शरीर में अपना पैर छुआते हैं—क्या करें छुआना लाचारी है—इनके लिए माता, हमको क्षमा करो। कैसा सुन्दर भाव है !

इतना करने के बाद फिर हमको अपने नित्यकार्यों में लग जाना चाहिये। शौच, दन्त-धावन, स्नान-संध्या, खुली हवा में व्यायाम, इत्यादि सुबह के मुख्य कर्म हैं। ये सब कार्य स्वच्छ

और खुली हवा में प्रातःकाल करने चाहिएँ। प्रातःकाल जो वायु चलती है; वह शरीर और मन को प्रसन्न करके प्रफुल्लित कर देती है; और आरोग्यता को बढ़ाती है। यह वायु सूर्योदय के पहले दो घण्टे चलती है, सूर्योदय के बाद हवा दूसरी हो जाती है। इसी वायु के गुण का वर्णन करते हुए किसी हिन्दी कवि ने कहा है :—

प्रात-समय की वायु को सेवन करत सुजान।
तातें मुख छबि बढ़ति है, बुद्धि होति बलवान।

अतएव बालक से लेकर बूढ़े तक, स्त्री-पुरुष सबको, इस अमृतबेला का उचित रीति साधन करना चाहिए।



स्नान

स्नान का सर्वोत्तम समय प्रातःकाल ही है। शौच मुख-मार्जन के बाद स्नान करना चाहिये। कुछ लोगों का मत है कि व्यायाम के पहले स्नान करना चाहिये, जिससे शरीर के छिद्र खुल जावें; और व्यायाम करते समय पसीने द्वारा तथा वायुसंचार के द्वारा शरीर का मल भली भाँति निकल सके; और कई लोगों का यह भी मत है कि व्यायाम के बाद स्नान करना चाहिये, जिससे शरीर से निकला हुआ मैल साफ हो जाय। दोनों मत ठीक हैं। जिसको जैसी सुविधा हो, वैसा करना चाहिए; परन्तु यह ध्यान में रहे कि व्यायाम के बाद तुरन्त ही स्नान ठीक नहीं। कुछ देर विश्राम लेकर स्नान करना चाहिए।

स्नान सदैव शीतल जल से ही करना चाहिये। इससे शरीर स्वस्थ और चित्त प्रसन्न होता है। परतु शीत प्रदेशों में यदि कुछ उष्ण जल से स्नान किया जाय, तो भी कोई हानि नहीं। मतलब यह कि देशकाल के अनुसार व्यवहार करना उचित है। सरदी के मौसिम में प्राय. एक ही बार स्नान किया जाता है; परन्तु यदि दो बार का अभ्यास किया जाय, तो भी लाभ ही होगा। ग्रीष्म और वर्षा में दो बार स्नान करना बहुत लाभदायक है।

स्नान के पहले तैलाभ्यङ्ग करने से भी स्वास्थ्य की वृद्धि होती है। भावप्रकाश में लिखा है कि स्नान के पहले शरीर में तैल इत्यादि मलने से वातादि दोष दूर होते हैं, थकावट मिटती है, बल बढ़ता है, नींद आती है। शरीर का रङ्ग खुलता है।

आयु बढ़ती है। सिर पर तेल मलने से मस्तक के सब रोग दूर होते हैं दृष्टि स्वच्छ रहती है। शरीर में पुष्टि आती है। केश घने, काले, लम्बे, मुलायम होते हैं। कान में तेल डालने से सब कर्णरोग दूर होते हैं। पैरों में मलने से पैरों की थकावट दूर होती हैं, फोड़े फुन्सियाँ नहीं होतीं; और पैरों के तलुओं में मलने से सब शरीर पर उसका असर होता है। आँखों को भी लाभ होता है।

स्नान-समय के अभ्यंग से रोमछिद्रों, नाड़ियों और नसों के द्वारा शरीर तृप्त और बलवान होता है। जैसे जल से वृक्ष का प्रत्येक अंग बढ़ता है वैसे अभ्यंग से शरीर की सब धातुएँ बढ़ती हैं। परन्तु जिनको अजीर्ण हो, नवीन ज्वर आया हो, उलटी हुई हो, या जुलाब हुआ हो उनको अभ्यंग मना है।

तैलाभ्यंग के बाद शीतल जल से स्नान करते हुए शरीर के सब अंगप्रत्यंगों को खूब मलना चाहिये; और पीछे से गाढ़े के अँगौछे से शरीर को खूब रगड़ कर पोछना चाहिये। स्नान के लाभ महर्षि वाग्भट्टजी ने इस प्रकार लिखे हैं :—

उद्वर्तनं कफहरं मेदसः प्रविलापनम्।
स्थिरीकरणमंगाना त्वक्प्रसादकरं परम्॥

वाग्भट्ट०

शरीर को रगड़ कर मैल निकालने से कफ और मेद का नाश होकर शरीर दृढ़ हो जाता है। शरीर की त्वचा मुलायम और सुन्दर हो जाती है।

दीपनं वृष्यमायुष्यं स्नानमूर्जाबलप्रदम्।
कण्डूमलश्रमस्वेदतंद्रातृड्दाहपाप्मजित्॥

स्नान से जठराग्नि की वृद्धि शरीर की पुष्टि, बल की अधिकता,

आयु की दीर्घता प्राप्त होती है। दाद-खाज, थकावट, मल, पसीना, आलस्य, दाह, तृषा इत्यादि दूर होते हैं।

हम ऊपर कह चुके हैं कि स्नान सदैव शीतल जल से ही करना चाहिये; परन्तु शीत-प्रधान देशों में यदि उष्ण जल से स्नान किया जाय, तो मस्तक के ऊपर उष्ण जल भूलकर भी न डालना चाहिये। इससे नेत्रों को और मस्तिष्क को अत्यन्त हानि पहुँचती है।

प्रातःकाल और सायंकाल स्नान के बाद एकान्त और शुद्ध स्थान पर बैठकर पहले सन्ध्योपासन करना चाहिये। इसके बाद घर के अन्य कार्य तथा व्यवसाय नियमित रूप से करना चाहिये।

व्यायाम

भोजन को पचाने को और शरीर को हृष्टपुष्ट रखने के लिए मनुष्य को व्यायाम की आवश्यकता है। व्यायाम से क्या लाभ होता है, इस विषय में आयुर्वेद के आचार्य महर्षि वाग्भट्ट जी कहते हैं:—

लाघवं कर्मसामर्थ्यं दीप्तोऽग्निर्मेदसः क्षयः।
विभक्तघनगात्रत्वं व्यायामादुपजायते॥

अष्टांगहृदय

व्यायाम से फुर्ती आती है, कार्य करने की शक्ति बढ़ती है, पेट।

की आग बढ़ती है, चर्बी अर्थात् शरीर का बलगम नाश हो जाता है, शरीर के बल अंग-प्रत्यंग यथोचितरूप से सुदृढ़ मज़बूत हो जाते हैं। जो लोग रबड़ी-मलाई पकवान इत्यादि गरिष्ट अन्न खाते हैं; और शारीरिक परिश्रम के कार्य करने का जिनको बिलकुल मौका नहीं मिलता, उनके लिए तो व्यायाम अत्यन्त आवश्यक है :—

विरुद्धं वा विदग्धं वा भुक्तं शीघ्रं विपच्यते।
भवति शीघ्रं नैतस्य देहे शिथिलतोदयः।

अष्टांगहृदय

अर्थात् ऐसे लोग जो प्रकृति के विरुद्ध गरिष्ट भोजन करते हैं, उनका भोजन भी व्यायाम से पच जाता है; और शरीर में शीघ्र शिथिलता नहीं आने पाती। जिन लोगों की चर्बी बेतरह बढ़ रही हो, और शरीर बेडौल मोटा हो रहा हो, उनके लिये व्यायाम एक बड़ी भारी औषधि है।

य चैनं सहसाक्रम्य जरा समधिरोहति।
न चास्ति सदृशं तेन किंचित्स्थौल्यापकर्षम्॥

भावप्रकाश

व्यायाम करने से जल्दी बुढ़ापा नहीं घेरता; और यदि व्यायाम बराबर करता रहे, तो मनुष्य मृत्युपर्यन्त अजर, अर्थात् युवा रह सकता है। और जो लोग बेडौल मोटे हो जाते हैं, उनका मोटापन भी छूट जाता है। परन्तु सब लोगों के लिए सदैव व्यायाम हितकर भी नहीं है। आजकल आयुर्वेद के नियम जाने बिना सब तरह के लोग जो बेतरह और असमय-कुसमय व्यायाम करने लग जाते हैं, इससे बड़ी हानि होती है :—

भुक्तवान्कृतसंभोगः कासी श्वासी कृशः क्षयी ।
रक्तपित्ती क्षती शोषी न तं कुर्यात्कदाचन ॥

भावप्रकाश

जो अभी हाल ही में भोजन अथवा स्त्री प्रसंग कर चुका है, अर्थात् जो ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन नहीं करता, जिसको खाँसी या श्वास का रोग है, जो बहुत कमजोर है, जिसको क्षय, रक्तपित्त, क्षत शोष का रोग है, इनको व्यायाम कभी न करना चाहिए। हां, यदि हो सके, तो खुली हवा में धीरे-धीरे टहलने का व्यायाम ये लोग भी कर सकते हैं। अत्यन्त कठोर व्यायाम तो सभी के लिए हानिकारक है। जितना व्यायाम शरीर से सहन हो सके उतना ही व्यायाम करना चाहिए। अति सब जगह वर्जित है:—

तृष्णाक्षयः प्रतमको रक्तपित्तं श्रमः क्लमः।
अतिव्यायामतः कासो ज्वरश्छर्दिश्च जायते ॥

अष्टांगहृदय

बहुत व्यायाम करने से शरीर में खुश्की बढ़ती है, तृषा का रोग हो जाता है; क्षय, श्वास रक्तपित्त, ग्लानि, खांसी, इत्यादि के रोग हो जाते हैं।

इसलिए अधिक व्यायाम न करना चाहिए। व्यायाम का इतना ही मतलब है कि शरीर से परिश्रम किया जाय, जिससे भोजन पचे; और दृढ़ता आवे। व्यायाम अनेक प्रकार के हैं; परन्तु अनुभव से जाना गया है कि खुली हवा में बस्ती के बाहर, प्रकृतिसौन्दर्य से पूर्ण हरे-भरे जंगल अथवा पहाड़ों इत्यादि में खूब तेजी के साथ भ्रमण करना सब से अच्छा व्यायाम है भ्रमण करते समय हाथ बिलकुल खुले छोड़ देना

चाहिये; और सब शरीर के अंग प्रत्यंगों का संचालन स्वाभाविक रूप से होने देना चाहिये। श्वास को रोकने का प्रयत्न न करना चाहिये और मुख से श्वास कभी न लेना चाहिए। किसी प्रकार का भी व्यायाम हो, सदैव नासिका से ही श्वास लेना और छोड़ना लाभदायक है।

आजकल हमारे विद्यार्थियों में अंगरेजी व्यायाम की प्रथा चल पड़ी है। यह बहुत ही हानिकारक है। दण्ड, मुगदर, कुश्ती, दौड़, कबड्डी, इत्यादि देशी व्यायाम का समय सुबह और शाम बहुत अच्छा है। असमय में भूखे प्यासे विद्यार्थियों को व्यायाम कराना मानो उनको जानबूझ कर मृत्यु के मुख में देना है।

भोजन

भोजन शरीर के लिए आवश्यक है। परन्तु भोजन ऐसा ही करना चाहिए कि जो शुद्ध हो। क्योंकि जैसा हम भोजन करेंगे, वैसी हमारी बुद्धि, मन और शरीर बनेगा। अर्थात् भोजन की शुद्धि पर ही हमारे जीवन की शुद्धि अवलम्बित है। महाभारत उद्योगपर्व में लिखा है :—

यच्छक्यं ग्रसितुं ग्रास्यं ग्रस्तंपरिणमेच्च यत्।
हितं च परिणामे यत्तादद्यं भूतिमिच्छता॥

महाभारत, उद्योगपर्व

जो पदार्थ भोजन करने योग्य हों, पचने योग्य हों, तथा परिणाम में गुणकारी हों, उन्हीं पदार्थों का भोजन, आरोग्यता की इच्छा रखने वालों को करना चाहिये। सतीगुण, रजोगुण और तमो-

गुण के अनुसार तीन प्रकार के आहार, जो गीता में बतलाये गये हैं, उनमें से सतोगुणी लोगों को जो प्रिय हैं, उन्हीं आहारों को ग्रहण कर के अन्य दो प्रकार के आहारों का त्याग करना चाहिए। सतोगुणी आहार इस प्रकार बतलाया गया है :—

आयुः सत्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ॥
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥

गीता, अ० १७

अर्थात् आयु, जीवन की पवित्रता, बल, आरोग्य, सुख, प्रेम को बढ़ानेवाले सरस, चिकने, पुष्टिकारक, रुचिकारक आहार सात्विक लोगों को प्यारे होते हैं। बस यही गुण जिन पदार्थों में हों, उन्हीं का भोजन करना चाहिए। अब रजोगुणी और तमोगुणी आहार, जिनका त्याग करना चाहिए, बतलाते हैं :—

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥

गीता, अ० १७

कड़ुवे खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, और कलेजे को जलानेवाले आहार राजसी मनुष्यों को पसन्द आते हैं। ये आहार दुख, शोक और रोग उपजाते हैं। अतएव इनको त्यागना चाहिए। अब तमोगुणी आहार देखिये :—

यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥

गीता, अ० १७

एक पहर का रखा हुआ, नीरस, सड़ा-बुसा, जूठा, और अशुचि (मांसादि) तमोगुणी लोगों का भोजन है। इस भोजन को भी अत्यन्त निकृष्ट और त्याज्य समझना चाहिए।

इसके अतिरिक्त देश-काल का भी विचार कर के जहां जिस समय जैसा आहार मिलता हो उसमें से सात्विक और अपने लिये हितकर आहार ग्रहण करना चाहिए। भोजन बहुत अधिक नहीं करना चाहिए; किन्तु पेट को कुछ खाली रखना चाहिए। भगवान् मनु कहते हैं :—

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

मनु०, अ० २

बहुत भोजन करना आरोग्य, आयु और सुख के लिए हानिकारक है। इससे पुण्य भी नहीं लोगों में निन्दा होती है। इसलिए बहुत भोजन नहीं करना चाहिए।

भोजन के पहले और पीछे हाथ-पैर और मुख भली भांति धो डालना चाहिए। भोजन ठीक समय पर करना चाहिए। प्रातःकाल १० बजे और सायंकाल को सूर्य डूबने के पहले भोजन कर लेना चाहिए। भोजन सिर्फ सायंप्रातः दो ही बार करना चाहिए। बीच में जल के अतिरिक्त और कुछ नहीं ग्रहण करना चाहिए। महाभारत में कहा है :—

सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं देवनिर्मितम्।
नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत्॥

महाभारत, शान्तिपर्व

सुबह शाम दो ही बार भोजन करना मनुष्यों के लिए देवताओं ने बनाया है, बीच में भोजन नहीं करना चाहिए। इससे उपवास का फल होता है।

पीने के लिए शुद्ध जल से उत्तम पदार्थ और कोई भी नहीं है। गौ का शुद्ध ताज़ा दूध भी प्रातःकाल ७ बजे के लगभग

ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु बहुत लोगों की सम्मति है कि दुग्ध इत्यादि भी भोजन के साथ ही लेना चाहिए, अलग पीने की आवश्यकता नहीं। बीच बीच में तो केवल शुद्ध जल ही ग्रहण करना चाहिए। आयुर्वेद के आचार्य महर्षि सुश्रुतजी शुद्ध जल का लक्षण इस प्रकार बतलाते हैं —

निर्गन्धमव्यक्तरसं तृष्णाघ्नं शुचि शीतलम्।
अच्छं लघु च हृद्यं च तोयं गुणवदुच्यते॥

सुश्रुत, सूत्रस्थान, अ० ४५

जिसमें किसी प्रकार की सुगन्ध या दुर्गन्ध न हो, किसी प्रकार का विशेष स्वाद न जान पड़े, जिससे प्यास मिटे, पवित्र हो, शीतल हो, अच्छा हो, हलका हो, प्रिय हो, ऐसा जल गुणकारी माना गया है। इसी प्रकार का जल सेवन करना चाहिए। भोजन के सम्बन्ध से जल का सेवन इस प्रकार बतलाया है:—

अजीर्णे भेषजं वारि जीर्णे वारि बलप्रदम्।
भोजने चामृतं वारि भोजनान्ते विषप्रदम्॥

चाणक्यनीति

अजीर्ण में जल औषधि का काम करता है; और भोजन पच जाने पर जल बलदायक होता है। भोजन करते समय बीच में थोड़ा थोड़ा जल पीते रहने से वह अमृत की तरह लाभदायक होता है। परन्तु भोजन के अन्त में बहुत सा जल एकदम पी लेने से वह विष की तरह हानिकारक होता है।

प्रथम तो भोजन अपने घर का ही, शुद्धता के साथ बना हुआ, ग्रहण करना चाहिए। फिर जिनके यहां का हमको विश्वास हो, जो पवित्र मनुष्य हों, जिनका व्यवसाय पवित्र हो, मद्य मांस का सेवन न करते हों, धर्मात्मा हों, ऐसे लोगों के यहां भी भोजन ग्रहण करने में कोई हानि नहीं।

इसके सिवाय भक्ष्याभक्ष्य में अफीम, गांजा, भांग, चरस, मद्य, ताड़ी, बीड़ी,-सिगरेट, चाय इत्यादि सब का निषेध है। अर्थात् जितनी नशीली चीजें हैं, उनका कभी सेवन न करना चाहिए। नशीली चीज का लक्षण आयुर्वेद में इस प्रकार दिया गया है :—

बुद्धिं लुम्पति यद्द्रव्यं मदकारी तदुच्यते।
शार्ङ्गधर, अ० ४

अर्थात् जिस चीज के सेवन से बुद्धि का नाश होता है वही चीज नशीली है। उसका सेवन न करना चाहिए।

निद्रा

प्रवृत्ति और निवृत्ति से सृष्टि चलती है। प्रवृत्ति के बाद निवृत्ति और निवृत्ति के बाद प्रवृत्ति सृष्टि का आवश्यक नियम है। इसीके अनुसार दिन को कार्य करना और रात को आराम करना सब जीवों के लिए आवश्यक है। मनुष्येतर जीव तो इस विषय में नियम से खूब बन्धे हुए हैं। जहां सायंकाल हुआ, चिड़ियाँ बसेरा लेने के लिए अपने अपने घोसलों की ओर दौड़ती है। परन्तु मनुष्य प्राणी का कोई नियम नही है; और इसी कारण अल्पायु होकर मर जाता है। कितने ही लोग प्रकृति के विरुद्ध आचरण करते हैं। दिन को सोते तथा रात को जागते हैं, अथवा दिन रात सोने और काम करने का कोई

नियम न बांधकर बारह या एक बजे रात तक जागते रहते हैं। और सूर्योदय के बाद सात-आठ बजे तक भी सोते रहते हैं। इससे उनकी आरोग्यता खराब हो जाती है; और आयु क्षीण होकर वे शीघ्र ही मृत्यु के ग्रास बन जाते हैं। इसलिए ठीक समय पर सोने और ठीक समय पर जागने का नियम मनुष्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

ब्राह्ममुहूर्त का वर्णन करते हुए बतला चुके हैं कि मनुष्य को रात के अन्त में साधारणतया ४ बजे शय्या अवश्य त्याग देनी चाहिए। परन्तु ४ बजे तड़के उठने के लिए रात के पहले पहर अर्थात् ६ बजे के लगभग मनुष्य को अवश्य सो जाना चाहिए साधारण स्वस्थ मनुष्य के लिए ६ या ७ घण्टे की निद्रा पर्याप्त है। बालकों को आठ या नौ घंटे सोना चाहिए। दिन में अनेक कार्यों में प्रवृत्त रहने के कारण मनुष्य को जो शारीरिक और मानसिक श्रम पड़ता है, उसको दूर करके सब इन्द्रियों और मन को फिर से तरो ताजा करने के लिए ६-७ घंटे की गहरी निद्रा लेनी चाहिए। परन्तु हम देखते हैं कि कई लोगों को गहरी निद्रा नहीं आती। रात को बार बार नींद खुल जाती है, अथवा बुरे-बुरे स्वप्नों के कारण निद्रावस्था में भी उनके मन को पूरा पूरा विश्राम नहीं मिलता। इसका कारण यही है कि ऐसे मनुष्यों की दिनचर्या ठीक नहीं रहती। जो लोग ज्यादा चिन्ता में पड़े रहते हैं; अथवा रात को बहुत गरिष्ट भोजन करके एक-दम सो जाते हैं, उनको कभी गहरी नींद नहीं आ सकती। इस-लिए जिनको पुष्ट भोजन करना हो, उनको सूर्य डूबने के पहले ही शाम को भोजन कर लेना चाहिए। इससे ६ बजे रात तक वह भोजन बहुत कुछ पच जायगा; और उनको गहरी निद्रा आवेगी। इसके सिवाय दिन के कार्य नियमित रूप से करने

चाहिएं। शरीर को काफी परिश्रम भी मिलना चाहिए; क्योंकि जो लोग काफी शारीरिक परिश्रम या व्यायाम नहीं करते हैं; उनको भी गहरी नींद नहीं आती। दिन को कार्य करते समय मन को व्यग्र नहीं रखना चाहिये; बल्कि सब कार्य स्थिर चित्त से करना चाहिये। प्रत्येक कार्य में मन की एकाग्रता और निश्चिन्तता रखने से रात को नींद अच्छी आती है। कई लोग दिन को बहुत-सा सो लेते हैं। इस कारण भी रात को उन्हें नींद नहीं आती। दिन को सोना बहुत ही हानिकारक है :—

अनायुष्यं दिवास्वप्नं तथाभ्युदिशायिता।
प्रगे निशामासु तथ्य ये चोच्छिष्टाः स्वपन्ति वै॥

महाभारत, अनुशासनपर्व

दिन में सोने से, और दिन चढ़ आने तक सोते रहने से, आयु का नाश होता है। इसी प्रकार जो लोग रात्रि के अन्तिम भाग में सोते हैं, और पवित्र रह कर सोते हैं, उनकी भी आयु क्षीण होती है।

दिन को सोने से क्या हानि होती है, इस विषय में आयुर्वेद कहता है :—

दिवा स्वापं न कुर्वीत यतोऽसौ स्यात्कफावहः।
ग्रीष्मवर्ज्येषु कालेषु दिवास्वप्नो निषिध्यते॥

दिन में न सोना चाहिये; क्योंकि इससे कफ की वृद्धि होती है। हाँ ग्रीष्मकाल में यदि थोड़ा आराम कर लें, तो कोई हानि नहीं; क्योंकि इस ऋतु में एक तो दिन बड़े होते हैं, दोपहर को कड़ी धूप और गर्मी में कार्य भी कम होता है; और कफ का प्रकोप भी स्वाभाविक प्रकृति में कम हो जाता है।

रात को ९ और १० बजे के अन्दर हाथ-पैर, मुँह इत्यादि धोकर शुभ्र स्वच्छ शैया के ऊपर मन को सब संकल्प-विकल्पों से हटा कर सोना चाहिए। चारपाई पर पड़कर मन में किसी प्रकार के भी संकल्प-विकल्प न लाना चाहिये। क्योंकि जब तक मन शान्त नहीं होता है; गहरी निद्रा नहीं आती है। मन को शान्त करने का सबसे बड़ा साधन यही है कि सब विषयों से चित्त को हटाकर एक ईश्वर की तरफ लगावे, उसी की स्तुति प्रार्थना और उपासना के श्लोक पढ़ते हुए और उसी में मन को एकाग्र करके सो जावे। उपनिषद् में कहा है :—

स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति॥

कठोपनिषद्

अर्थात् निद्रा के अन्त में और जागृत अवस्था के अन्त में, अर्थात् सोने से पहले, जो उस महान् सर्वव्यापी परमात्मा में अपना चित्त लगाकर, उसी की स्तुति-उपासना और प्रार्थना करके, उसी में मग्न होकर, उसी का दर्शन करते हुए, सो जाता है, उसको कष्ट नहीं होता।

इस प्रकार जो मनुष्य दिन भर सदाचार-पूर्वक अपने सब व्यवसाय करके और अन्त में पवित्रता-पूर्वक, पवित्र शैया पर, परमात्मा का ध्यान करते हुए निद्रा की गोद में यथासमय स्वस्थ विश्राम करते हैं उनको ही गहरी निद्रा का परम लाभ प्राप्त होता है। इस प्रकार समय पर सोने से क्या लाभ है, आयुर्वेद कहता है :—

निद्रा तु सेविता काले धातुसाम्यमतंद्रिताम्।
पुष्टिवर्णबलोत्साह वह्निर्दीप्ति करोति हि॥

भावप्रकाश

समय पर और यथानियम सोने से मनुष्य के शरीर की सब धातुएँ सम रहती हैं, किसी प्रकार का आलस दिन में नहीं आता; शरीर पुष्ट होता है, रङ्ग खिलता है, बल और उत्साह बढ़ता है; और जठराग्नि होकर भूख बढ़ती है।

हां, एक बात और है। हमने गम्भीर निद्रा आने के लिए सूर्य डूबने के पहले भोजन का विधान किया है; परन्तु कई गृहस्थों के लिए ऐसा सम्भव नहीं है। उनके लिए आयुर्वेद के ग्रन्थ भावप्रकाश में इस प्रकार आज्ञा दी है :—

रात्रौ च भोजनं कुर्यात् प्रथम प्रहरान्तरे।
किंचिदून समश्नीयात् दुर्जरं तत्र वर्जयेत्।

अर्थात् ऐसे गृहस्थ, जिनको सूर्य डूबने के पहले अपने व्यवसाय के कारण, भोजन करना असम्भव है, सूर्य डूबने के बाद भोजन कर सकते हैं; परन्तु शर्त यह है कि वे रात के पहले पहर के अन्दर ही भोजन कर लें; और कुछ कम भोजन करें, तथा गरिष्ट भोजन तो बिलकुल ही न करे। हल्का भोजन जैसे दुग्ध-पान इत्यादि कर सकते हैं। जिनको गरिष्ट भोजन, अर्थात् अधिक देर में पचनेवाला भोजन, करना हो, उनको सूर्य डूबने से पहले ही शाम को भोजन करना अनिवार्य है।

निद्रा के इन सब नियमों का पालन करने से मनुष्य अवश्य आरोग्य रहेगा। आरोग्यता धर्म का मूल है।

पांचवां खण्ड

अध्यात्म-धर्म

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते"

—गीता अ० ४–३८।

ईश्वर

ईश्वर का मुख्य लक्षण हिन्दू धर्म "सच्चिदानन्द" माना गया है—अर्थात् सत्+चित्+आनन्द । सत् का अर्थ है जो सदैव से है; और सदैव रहेगा । चित् का अर्थ है चैतन्य स्वरूप या सम्पूर्ण शक्तियों का प्रेरक, सर्वशक्तिमान् । और आनन्द-स्वरूप—अर्थात् सुखदुख, इच्छा, द्वेष, इत्यादि सब द्वन्द्वों से परे है । महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन में कहते हैं :—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।

योगदर्शन ।

अर्थात् जो अविद्यादि, क्लेश, कुशल, अकुशल, इष्ट, अनिष्ट और मिश्रफलदायक कर्मों की वासना से रहित है; जीवमात्र से विशेष है, वही ईश्वर है । ईश्वर छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है; क्योंकि वह सब में व्यापक होकर भी सब को चला रहा है । जीव सब से छोटा माना गया है ; परन्तु वह ईश्वर जीव के अन्दर भी बसता है । आकाश और मन इत्यादि द्रव्य सब से छोटे हैं; परन्तु परमात्मा इनके अन्दर भी व्यापक है ।

वह देवों का देव है । तेंतीस कोटि देवता है । अर्थात् देवताओं की तेंतीस कोटि हैं; उनके अन्दर भी ईश्वर बस रहा है; और ईश्वर के अन्दर वे बस रहे हैं । देवताओं की तेंतीस कोटियों की व्याख्या शतपथ ब्राह्मण में इस प्रकार की गई है :—

आठ वसु—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्रमा, सूर्य और नक्षत्र । ये सब सृष्टि के निवासस्थान होने के कारण वसु कहाते हैं ।

ग्यारह रुद्र—प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग,

कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय और जीवात्मा, ये ग्यारह 'रुद्र' इसलिये कहलाते हैं कि जब ये शरीर छोड़ते हैं, बत रुलाते हैं।

बारह आदित्य—संवत्सर के बारह महीने ही बारह आदित्य कहलाते हैं। काल का नियमन यही करते हैं, इस लिए इनकी आदित्य संज्ञा है।

एक इन्द्र – विद्युत् को कहते हैं, जिसके कारण सृष्टि का परम ऐश्वर्य स्थापित है।

एक प्रजापति—प्रजापति यज्ञ को कहते हैं, क्योंकि इसी के कारण सम्पूर्ण सृष्टि की रक्षा होती है। वायु, वृष्टि, जल, ओषधि इत्यादि, की शुद्धि, सत्पुरुषों का सत्कार और नाना प्रकार के कलाकौशल और विज्ञान का आविर्भाव यज्ञ ही से होता है।

यही तेंतीस कोटियां देवताओं की हैं। इस इसका प्रेरक, सब का अधिष्ठाता, सब का निवासस्थान ईश्वर है। ईश्वर ही सम्पूर्ण सृष्टिका कर्त्ता धर्त्ता, संहर्त्ता है। अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि को उसी ने रचा है, वही पालन-पोषण और धारण करता है; और वही प्रलयकाल में इसका संहार करता है। वह सृष्टि उत्पन्न होने के पहले विद्यमान् था; और सृष्टि का लय हो जाने पर भी विद्यमान् रहेगा। वह किसी से पैदा नहीं हुआ है, उसी से सब पैदा हुआ है। वह अनादि अनन्त है। सब में व्यापक होकर, सब को पकड़े हुए है; और सब को नियमन करके चलाता है। उसके हाथ, पैर, नाक, कान, आंख इत्यादि कुछ भी नहीं है; परन्तु सर्वशक्तिमान् होने के कारण सब कुछ करता है, तुरन्त फिर भी किसी कर्म में फँसता नहीं। इसीलिए कहा है :—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं, सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।

यदि कहें कि वह हमको दिखाई क्यों नहीं देता; तो इसका उत्तर यही है कि ये चमड़े की आंखें जो परमात्मा ने हमको दी हैं, सिर्फ दृश्य जगत् को देखने के लिए दी हैं। सो पूरा पूरा दृश्य जगत् भी हम इनसे नहीं देख सकते। अपनी आंख में लगा हुआ अञ्जन और सिर का ऊपरी भाग तथा बहुत चेहरा भी हम अपना इन आंखों से नहीं देख सकते। सूक्ष्म जन्तु जो हवा में उड़ते रहते हैं, उनको हम नहीं देख सकते। फिर उस सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों में व्यापक और जीवात्मा से भी सूक्ष्म परमात्मा को हम इन आंखों से कैसे देख सकते हैं। यहां तक कि मन और आत्मा से भी हम उसको नहीं देख सकते—जब तक कि अपने मन और आत्मा को ज्ञान से शुद्ध न कर लेवें। जैसे शीशे पर मल जम जाने से उसके द्वारा हम अपना मुख नहीं देख सकते, उसी प्रकार जब तक मन और जीव पर अज्ञान की काई जकड़ी हुई है, तब तक हम ईश्वर को नहीं देख सकते। ईश्वर को देखने के लिए अपने सब दुर्गुणों को छोड़ना पड़ेगा। न्याय, सत्य, दया, परोपकार, अहिंसा, इत्यादि दिव्य गुणों को पूर्णरूप से धारण करना पड़ेगा। सब ईश्वरीय सद्गुणों को जब हम अपनी आत्मा में धारण कर लेवें, तब वह हमको अपने अन्दर स्वयं ही दिखाई पड़ने लगेगा। क्योंकि उसको देखने के लिए कहीं जाना थोड़ा ही है—वह तो सभी जगह है। हमारी आत्मा में आप प्रकाशित हैं; पर आत्मा मलीन होने के कारण वह हम को दिखाई नहीं देता। योगी लोग तप और सत्य से आत्मा को परिमार्जित कर के सदैव उसको देखते हैं। उपनिषद् में कहा है :—

समाधिनिर्धूतमलस्य चेतसो
निवेशितस्यात्मनि यत्सुखं भवेत्।

न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा
स्वयन्तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥

उपनिषद्

जो योगाभ्यास के द्वारा अपने चित्त के अज्ञानादि सब मैल धो डालता है, और अपनी आत्मा में ही स्थिर होकर फिर उस शुद्ध चित्त को परमात्मा में लगाता है, उसको जो अपूर्व सुख होता है वह वाणी-द्वारा वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि उस परम आनन्द को तो जीवात्मा अपने अन्तःकरण में ही अनुभव कर सकता है।

योगाभ्यास से समाधि में परमात्मा का दर्शन करने के पहले मनुष्य को योगशास्त्र में बतलाये हुए यम-नियम. दोनों का साथ ही साथ अभ्यास कर लेना होता है; क्योंकि जब तक इन यमों और नियमों का पूर्ण रूप से साधन नहीं कर लिया जाता, तब तक चित्त की वृत्ति एकाग्र नहीं होती और न योग-सिद्धि होती है। यम पांच हैं :—

तत्राऽहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः ;; यमाः ।

योगदर्शन

(१) अहिंसा अर्थात् किसी से वैर न करे; (२) सत्य बोले; सत्य माने, सत्य काम करे; असत्य का व्यवहार कभी न करे; (३) परधन और परस्त्री की इच्छा न करे; (४) ब्रह्मचर्य— जितेन्द्रिय हो, इन्द्रिय-लम्पट न हो; (५) अपरिग्रह—सब प्रकार का अभिमान छोड़ देवे। इसी प्रकार पांच नियम हैं :—

शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।

योगदर्शन

(१) रागद्वेष छोड़कर भीतर से, और जलादि द्वारा बाहर से शुद्ध रहे; (२) धर्मपूर्वक पुरुषार्थ करने में जो लाभ-हानि हो, उसमें हर्ष शोक न मनावे, सदा सन्तुष्ट रहे; (३) सुखदुख को सहन करते हुए धर्माचरण करते रहे; (४) सदा सत्य शास्त्रों को पढ़ाता रहे; और सत्पुरुषों का संग करे; (५) ईश्वर-प्रणिधान—अर्थात् परमात्मा के सर्वोत्तम नाम "ओ३म्" का अर्थ विचार कर के इसी का जप किया करे; और अपने आपको परमात्मा के आज्ञानुसार सब प्रकार से समर्पित कर देवें।

इन यम और नियमों का जब पहले मनुष्य, साथ ही साथ, अभ्यास कर लेता है, तब उसे अष्टांगयोग की सिद्धि क्रमशः
२ नियम; (३) आसन, (४) प्राणायाम; (५) प्रत्याहार; (६) धारणा; (७) ध्यान (८) समाधि। यम और नियमों का ऊपर वर्णन हो चुका है। इनके बाद आसन है। आसन चौरासी प्रकार के हैं; पर मुख्य यही है कि जिस बैठक से मनुष्य स्थिरता के साथ और सुखपूर्वक बैठा रहे, उसी का साधन करे। फिर प्राणायाम*अर्थात् श्वास के लेने और छोड़ने की गति के नियमन करने का अभ्यास करे। इसके बाद प्रत्याहार—अर्थात् इन्द्रियों और मन का सब बाहरी विषयों से हटा कर आत्मा में स्थिर करने का अभ्यास करे। फिर धारणा—अर्थात् अपनी आत्मा को भीतर परमात्मा में स्थिर करने का अभ्यास करे। इसके बाद ध्यान—अर्थात् स्थिर हुई आत्मा को बराबर परमात्मा में कुछ समय तक रखने का अभ्यास करे। फिर समाधि—अर्थात् आत्मा को परमात्मा में पूर्णतया बराबर लगाने का

* इस विषय में हमारी "प्राणायाम रहस्य" नामक पुस्तक तरुण-भारत-ग्रन्थावली, गान्धीनगर, कानपुर के पते से मँगा कर पढ़नी चाहिए।

अभ्यास करे। अर्थात् जितनी देर तक चाहे, ईश्वर में स्थित रहें। उसका दर्शन किया करे। ऐसी दशा में मनुष्य को ईश्वर के दर्शन का आनन्द हुआ करता है; बाहरी जगत् का उसको कुछ भान ही नहीं रहता। चित्त ईश्वर में तल्लीन रहता है।

इस प्रकार समाधि को सिद्ध करके ही मनुष्य ईश्वर का सच्चा स्वरूप देख सकता है। यों तो जहाँ तक उसका वर्णन किया जाय, थोड़ा है। उस अनन्त का अन्त कौन पा सकता है?

जीव

ईश्वर के बाद जीव है। इसको कोई कोई आत्मा और जीवात्मा भी कहते हैं। जीव का अर्थ है, चेतनतायुक्त और आत्मा का अर्थ है—व्यापक। जीवात्मा चेतन भी है; और व्यापक भी है। ईश्वर में सत्+चित्+आनन्द; तीनों लक्षण हैं। जीव में सिर्फ प्रथम दो लक्षण अर्थात् सत् और चित् हैं। सत् अर्थात् यह अविनाशी, सदैव रहने वाला अमर है; और चित् अर्थात् चैतन्ययुक्त है। इसमें तीसरा आनन्द गुण नहीं है। आनन्द सिर्फ परमात्मा में ही है। परमात्मा की उपासना कर के, उसके समीप स्थिर होकर, यह उससे आनन्द की प्राप्ति कर सकता है। ईश्वर और जीव का सम्बन्ध उपास्य और उपासक का है। दर्शनों में जीवात्मा के लक्षण इस प्रकार बतलाये गये हैं।

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥१॥

न्यायदर्शन

प्राणापाननिमेषोन्मेषमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखे[illegible] [illegible]यत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि ॥२॥

वैशेषिक दर्शन

अर्थात् इच्छा—पदार्थों की प्राप्ति की अभिलाषा। द्वेष—दुःखादि की अनिच्छा या वैर। प्रयत्न-बल या पुरुषार्थ। सुख-आनन्द। दुख—विलाप या अप्रसन्नता। ज्ञान—विवेक या भले बुरे की पहचान। ये लक्षण जीवात्मा के न्यायशास्त्र में बतलाये गये हैं।

वैशेषिक दर्शन में जीवात्मा के निम्नलिखित विशेष गुण बतलाये हैं :—

प्राण-प्राण को बाहर से भीतर को लेना। अपान—प्राण-वायु को बाहर को निकालना। निमेष—आंख को मींचना। उन्मेष—आंख खोलना। मन—निश्चय, स्मरण और अहंकार करना। गति—चलने की शक्ति। इन्द्रिय—सब विषयों को ग्रहण करने की शक्ति। अन्तर्विकार-क्षुधा-तृषा हर्ष-शोक, इत्यादि द्वन्द्व का होना।

इन्हीं सब लक्षणों से जीव की सत्ता जानी जाती है। जब तक ये गुण शरीर में रहते हैं, तभी तक समझो कि जीवात्मा शरीर के अन्दर है; और जब जीवात्मा शरीर को छोड़ कर चला जाता है तब ये गुण नहीं रहते।

उपर्युक्त इष्ट-अनिष्ट गुणों के कारण ही जीव कर्म करने में प्रवृत्त होता है। कर्म करने में जीव बिलकुल स्वतन्त्र है। जैसा मन में आवे, बुरा भला कर्म करे। परन्तु फल भोगने में वह परतन्त्र है। अर्थात् फल का देने वाला ईश्वर है। जीव को यह अधिकार नहीं है कि वह अपने मन के अनुसार फल भोगे। यदि वह बुरा कर्म करेगा, तो बुरा फल बाध्य होकर उसको भोगना ही पड़ेगा। चाहे वह इस जन्म में भोगे, चाहे पर-जन्म में। ईश्वर जीव के कर्मों का साक्षी मात्र है। वह देखता रहता है कि इसने ऐसा कर्म किया; और जीव कैसा कर्म

करता है, उसके अनुसार ही वह उसको फल देता है। इससे ईश्वर न्यायकारी है। जीव और ईश्वर का यह सम्बन्ध ऋग्वेद में इस प्रकार बतलाया गया है :—

द्वा सुपर्णा सयुजासखासमया नं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋग्वेद

यही मंत्र उपनिषदों में भी आया है। इसका अर्थ यह है कि ईश्वर और जीव दोनों (पक्षी) 'सुपर्ण' अर्थात् चेतनता और पालनादि गुणों में सदृश हैं। 'सयुजा' अर्थात् व्याप्य और व्यापक भाव में संयुक्त हैं; 'सखाया' परस्पर सखाभाव से सनातन और अनादि हैं; और वैसी ही अनादि प्रकृतिरूप वृक्ष पर ये दोनों पक्षी बैठे हुए हैं, परन्तु उनमें से एक, अर्थात् जीव उस वृक्ष के पापपुण्यरूप फलों को भोगता है; और दूसरा (परमात्मा) उनको भोगता नहीं है, किन्तु चारों ओर से भीतर बाहर प्रकाशमान हो रहा है। अर्थात् जीव के कर्म-फल-भोग का साक्षी है। इस मंत्र में ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों की भिन्नता अलंकार-रूप से स्पष्ट बतला दी गई है। गीता में भी तीनों का इस प्रकार उल्लेख किया गया है :—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च ।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

गीता, अ० १५

सम्पूर्ण सृष्टि में दो शक्तियाँ हैं—एक परिवर्तनशील अर्थात् नाशवान् और दूसरा अविनाशी। नाशवान् में तो सब भूत

अर्थात् पञ्चभूतात्मक जड़ प्रकृति आ जाती है; और अविनाशी जीव कहलाता है। परन्तु इन दोनों से भी श्रेष्ठ एक शक्ति है, जो परमात्मा के नाम से जानी जाती है। वह अविनाशी ईश्वर तीनों लोक में व्याप्त होकर सब का भरण-पोषण और पालन करता है।

जीव को यह ज्ञान होना चाहिए कि परमात्मा सब जगह व्याप्त होते हुए, हमारी आत्मा में भी है; और यही ज्ञान सच्चा ज्ञान है। महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं :—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरम्।
आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ॥

बृहदारण्यक

अर्थात् हे मैत्रेयि, जो सर्वव्यापक ईश्वर आत्मा में स्थिर है और उससे भिन्न है, (अर्थात् अज्ञान के कारण जिसको जीव भिन्न समझता है)— मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मुझमें व्यापक है। जिस प्रकार शरीर में जीव व्यापक है, उसी प्रकार वह जीव में व्यापक है—अर्थात् यह जीव ही एक प्रकार से उसका शरीर है। वह परमात्मा इस जीवात्मा से भिन्न रह कर—अर्थात् इसमें न फँसता हुआ, इसके पापपुण्यों का साक्षी और फलदाता होकर जीवों को नियम में रखता है। हे मैत्रेयि, वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा है—अर्थात् तेरे भीतर भी वही व्याप्त हो रहा है। उसको तू जान।

यह जीव का स्वरूप और जीवात्मा का परमात्मा से सम्बन्ध, संक्षेप में बतलाया गया है।

———

सृष्टि

सृष्टि का वर्णन करने के पहले यह देखना चाहिए कि सृष्टि किन कारणों से उत्पन्न हुई है। जब कोई कार्य होता है, तब उसका कोई न कोई कारण अवश्य होता है। बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता। कारण उसको कहते हैं, जिससे कोई कार्य उत्पन्न होता है। कारण भी तीन प्रकार का है। एक निमित्त-कारण। दूसरा उपादान कारण। तीसरा साधारण-निमित्त-कारण। निमित्त-कारण "करनेवाला" कहलाता है; और उपादानकारण वह कहलाता है कि जिस चीज से वह कार्य बने। और तीसरा साधारण-निमित्त वह कहलाता है जिसके द्वारा बने। जैसे घड़ा बनाया गया। अब घड़ा तो कार्य हुआ, और जिसने घड़ा बनाया, वह कुम्हार निमित्त-कारण हुआ, और जिससे घड़ा बना वह मिट्टी उपादान कारण हुई, और जिसके द्वारा घड़ा बनाया गया, वह कुम्हार का दण्ड और चक्र इत्यादि साधारण-कारण हुआ। इसी प्रकार सृष्टिरचना, जो एक कार्य है, उसके भी तीन कारण हैं। एक मुख्य निमित्त कारण परमात्मा, जो प्रकृति (उपादान कारण) की सामग्री से सृष्टि को रचता, पालन करता और प्रलय करता है। दूसरा साधारण-निमित्त जीव, जो परमेश्वर की सृष्टि में से पदार्थों को लेकर अनेक प्रकार के कार्यान्तर करता है, और तीसरा उपादान-कारण प्रकृति जो स्वयं सृष्टि-रचना की सामग्री है। यह जड़ होने के कारण स्वयं न बन सकती है; और न बिगड़ सकती है। यह दूसरे के बनाने से बनती और बिगाड़ने से बिगड़ती है।

इन तीन कारणों में से दो कारणों, अर्थात् ईश्वर और जीव के संक्षिप्त स्वरूप का वर्णन पीछे हो चुका है। अब यहां तीसरे कारण—उपादान-कारण—प्रकृति का स्वरूप बतलाने के बाद सृष्टि के विषय में लिखेंगे। हम कह चुके हैं कि ईश्वर में सत+चित्—आनन्द, तीन लक्षण हैं; जीव में सिर्फ सत् और चित् दो ही हैं, आनन्द नहीं है। अब प्रकृति को देखिये, तो उसमें एक ही लक्षण, अर्थात् 'सत्' है। सत् का अर्थ बतला चुके हैं कि जो अनादि है, जो किसी से उत्पन्न नहीं हुआ; और जो सदैव बनी रहेगा, कभी नष्ट होगा। यह लक्षण प्रकृति में में भी है—यह बन बिगड़ भले ही जाय, किन्तु इसका अभाव कभी न होगा। रूपान्तर से रहेगी अवश्य। प्रलय हो जाने के बाद भी अपने सूक्ष्म रूप में रहेगी। इसका नाम सत् या अनादि है। भगवान् कृष्ण भी गीता में यही कहते हैं:—

> प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ॥
> विकारांश्च गुणाश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥
>
> गीता अ० १३

प्रकृति और पुरुष (जीव) दोनों को अनादि, अर्थात् अविनाशी, जानो। हां, सृष्टि में जो विकार और गुण, अर्थात् तरह तरह के रूपान्तर, दिखाई देते हैं, वे प्रकृति से उत्पन्न होते हैं। जीव इन रूपान्तरों में फंसा रहता है; परन्तु ईश्वर निर्लेप है:—

> अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः।
> अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥
>
> —श्वेताश्वतरोपनिषद्

एक अज (अनादि) त्रिगुणात्मक सृष्टि बहुत प्रकार से रूपान्तर

को प्राप्त होती है। एक अज* (जीव) इसका भोग करता हुआ फँसता है; और एक अन्य अज (ईश्वर) न फँसता और न भोग करता है। अस्तु।

ईश्वर और जीव का लक्षण अलग-अलग बतला चुके हैं। अब यहां सृष्टि के तीसरे कारण प्रकृति का लक्षण बतलाते हैं—

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।

साङ्ख्यदर्शन

सत्व अर्थात् शुद्ध, रज अर्थात् मध्य, और तम अर्थात् जड़ता, इन तीनो की साम्यावस्था को प्रकृति कहते हैं। अर्थात् ये तीन वस्तुएँ मिलकर जो एक संघात है, उसी का नाम प्रकृति है।

इस प्रकार ईश्वर, जीव और प्रकृति, यही तीन इस जगत् के कारण हैं। मुख्य निमित्त-कारण ईश्वर है। उसी के ईक्षण या प्रेरणा से प्रकृति जगत् के आकार में आती है। वही निराकार ईश्वर, जो सूक्ष्म जीव और प्रकृति के अन्दर भी व्याप्त रहता है, अपनी स्वाभाविक शक्ति, ज्ञान, बल और क्रिया से प्रकृति को स्थूलाकार में लाता है। सृष्टि, उत्पत्ति के समय, प्रकृति से स्थूलाकार में किस प्रकार आने लगती है:—

प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पंचतन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पंचविंशति गणः।

साङ्ख्यशास्त्र

सृष्टि रचना की प्रथम अवस्था में परम सूक्ष्म प्रकृतिरूप कारण से जो कुछ स्थूल होता है उसका नाम महत्तत्व या बुद्धि

---

* जीव शरीर में आकर जन्म लेता और मरता है; पर उसका नाश नहीं है, वह किसी से पैदा नहीं हुआ है, अनादि है, सत् × चित् है, इसलिए अज कहा है।

है। उससे जो कुछ स्थूल होता है, उसका नाम अहंकार है। अहंकार से भिन्न-भिन्न पाँच सूक्ष्मभूत हैं। इन्ही को पंच-तन्मात्रा कहते हैं। वह पाँचो भूतों का—अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश का—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के रूप में आभास मात्र रहता है। फिर अहंकार ही से पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियां, तथा ग्यारहवॉ मन भी होता है ये सब इन्द्रियों भी आभासमात्र रहती हैं। ऐसी स्थूल नहीं रहतीं, जैसी हम शरीर मे देखते हैं। अस्तु। फिर उपर्युक्त पंचतन्मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म पंचभूतों से, अनेक स्थूलावस्थाओं को प्राप्त होते हुए ये स्थूल पंचभूत उत्पन्न होते हैं, जिनको हम देखते हैं। स्थूल प्रकृति से लगाकर स्थूल भूतों तक ये सब चौबीस तत्व हुए। पचीसवाँ पुरुष, अर्थात् जीव है। इन्हीं सब को मिलाकर ईश्वर ने इस स्थूल सृष्टि को रचा है।

अस्तु। स्थूल पंचमहाभूतों के उत्पन्न होने के बाद नाना प्रकार की ओषधियाँ वृक्ष लता-गुल्मादि, फिर उनसे अन्न, अन्न से वीर्य और वीर्य से शरीर होता है। पहले जो शरीर निर्माण होते हैं, उनमे ऋषियों की आत्मा प्रविष्ट होती है। ये अमैथुनी सृष्टि से उत्पन्न होते हैं। परमात्मा अपना ज्ञान, 'वेद' इन्हीं के द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य जाति के लिए प्रकट करता है। फिर क्रमशः अन्य स्त्री-पुरुषों के उत्पन्न होने पर मैथुनी सृष्टि चलती है। यह भूलोक की उत्पत्ति का वर्णन है। इसी प्रकार परमात्मा अन्य सब लोकों की सृष्टि करता है :—

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथ्वी चान्तरिक्षमथो स्वः ॥

ऋग्वेद

अर्थात् परमात्मा जिस प्रकार से कल्प-कल्प में सूर्य, चन्द्र, द्यौ,

भूमि, अन्तरिक्ष, और उनमें रहनेवाले पदार्थों को रचता आया है, वैसे ही इस सृष्टि-रचना में भी रचे हैं। इस प्रकार यह सृष्टि प्रवाह से अनादि है। अनादिकाल से ऐसी ही बनती-बिगड़ती, उत्पन्न होती और प्रलय होती हुई चली आती है। परमात्मा किस प्रकार से सृष्टि को दृश्य आकार में लाता है, इसका एक बहुत सुन्दर दृष्टान्त मुण्डकोपनिषद् में दिया है:—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च।

मुण्डक

अर्थात् जैसे मकरी अपने अन्दर से ही तन्तु निकाल कर जाला तनती है; और स्वयं उसमें खेलती है; और फिर उसको समेट भी लेती है, उसी प्रकार परमात्मा इस जगत् को प्रकट करके इसमें खेल रहा है। इसका तात्पर्य यह है कि ईश्वर के अन्दर प्रकृति और जीव व्याप्तरूप से पहले से ही वर्त्तमान रहते हैं, और जब ईश्वर सृष्टि की रचना करना चाहता है, तब अपने सामर्थ्य से उनको स्थूलरूप में लाता है; और आप फिर सम्पूर्ण सृष्टि में भीतर-बाहर व्यापक रहता है; सब का भरण-पोषण पालन और नियमन करता है; और फिर कल्प के अन्त में अपने अन्दर विलीन कर लेता है:—

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्॥

गीता, अ० ६।

अर्थात् कल्प के नाश होने पर, प्रलय होने पर, सम्पूर्ण सृष्टि परमात्मा में लीन हो जाती है, और कल्प के आदि में, अर्थात् जब फिर सृष्टि-रचना होती है, तब फिर ईश्वर सब को उत्पन्न करता है। ऐसा ही चक्कर लगा रहता है। यह सिलसिला कभी

बन्द नहीं होता। अब प्रश्न यह होता है कि जब एक बार सृष्टि संहार हो गया, तब से लेकर और जब तक फिर सृष्टि नहीं रची जाती तब तक क्या हालत रहती है। मनु भगवान् इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं :—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

मनु०

सृष्टि के पहले सम्पूर्ण विश्व अन्धकार से आच्छादित था; और प्रलय के बाद भी वैसा ही हो जाता है उस समय इसकी जो हालत रहती है; वह जानी नहीं जा सकती। उसका कोई लक्षण नहीं दिया जा सकता; और न अनुमान किया जा सकता है। चारों ओर सुमसुम प्रसुप्त अवस्था सी रहती है। अन्धकार भी ऐसा नहीं रहता जैसा हमें इन आँखों से दिखाई देता है। बल्कि वह एक विलक्षण दशा रहती है। एक परमात्मा और उसमें व्यापक-व्याप्य भाव से प्रकृति और जीव रहते हैं। और किसी प्रकार का आभास, जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं, उस समय नहीं रहता।

इस पर एक प्रश्न यह भी उठ सकता है कि ईश्वर सृष्टि रचना क्यों करता है? इसका उत्तर यही है कि यदि ईश्वर सृष्टि की रचना न करे, तो उसका सामर्थ्य सब जीवों पर कैसे प्रकट हो; और जीव जो पाप-पुण्य के बन्धन में सदैव काल से बँधे रहते हैं, उनको कर्मों का भोग करने के लिए भी कोई मौका न मिले; वे सदैव सोते हुए ही पड़े रहें। बहुत से पवित्र आत्मा मुक्ति का साधन करके मोक्ष का आनन्द ले सकते हैं। सो यह आनन्द भी सृष्टि-रचना के बिना उनको नहीं मिल सकता। परमेश्वर में जो ज्ञान, बल और क्रियाशक्ति स्वाभाविक

ही है, उसका उपयोग वह सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय व्यवस्था में ही कर सकता है। इतनी ही बात में तो परमात्मा परतन्त्र है। अपने नियमों में वह भी बँधा हुआ है। सृष्टिरचना से ही परमात्मा का सामर्थ्य और कला-कौशल प्रकट होता है। एक शरीर-रचना को ही ले लीजिए। भीतर हड्डियों के जोड़, नाड़ियों का बन्धन, मांस का लेपन, चमड़ी का ढक्कन; प्लीहा, यकृत, फेफड़ा, हृदय की गति, जीव की संयोजना, शिर के सारे शरीर की नाड़ियों से विलक्षण सम्बन्ध; रोम, नख, इत्यादि का स्थापन, आँख की अत्यन्त सूक्ष्म नस का तार के समान ग्रन्थन. इन्द्रियों के मार्गों का प्रकाशन; जीव की जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, इत्यादि अवस्थाओं के भोगने का प्रबन्ध, शरीर की सब धातुओं का विभाजीकरण इत्यादि ऐसी बाते हैं जिनका सिर्फ तनिक विचार करने से ही परमात्मा के कला-कौशल पर आश्चर्य चकित होना पड़ता है।

इसी प्रकार से और सम्पूर्ण सृष्टि को देख लीजिए। नाना प्रकार के रत्नों और चमकीली धातुओं से परिपूर्ण भूमि विविध प्रकार के वटवृक्ष के समान सूक्ष्म बीजों से अनोखी रचना; हरित, श्वेत, पीत, कृष्ण इत्यादि चित्रविचित्र रंगों से युक्त पत्र, पुष्प, फल, फूल मूल इत्यादि की रचना; फिर उनमें सुगन्धित की संयोजना; मिष्ट, क्षार, कटु, कषाय, तिक्त; अम्ल, इत्यादि छै रसों का निर्माण; पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य नक्षत्र, इत्यादि अनेक गोलों का निर्माण, उनकी नियमित गतिविधि, इन सब बातों से परमेश्वर की अद्भुत सत्ता प्रकट होती है।

नास्तिक लोग कहते हैं कि यह तो सब प्रकृति का गुण है। परन्तु प्रकृति जड़ है। उसमें चैतन्य शक्ति नहीं आप से आप वह यह सब रचना नहीं कर सकती। परमेश्वर के ईक्षण या

उसकी प्रेरक शक्ति से ही यह सब अजीब सृष्टि हुई है; होती रहती है, और ऐसी ही होती जायगी। इस सुन्दर सृष्टि के निर्माण-कौशल से ही इसके निर्माता की शक्ति का पता चलता है; और आस्तिक ईश्वरभक्त इसको देखकर, उसकी अनुपम सत्ता का अनुभव कर के, उसकी शक्ति में मग्न हो जाता है। वेद कहते हैं :—

इय विसृष्टिर्यत आ बभूव यदि वा दधे यदि वा न। यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।

—ऋग्वेद

हे अङ्ग, जिससे यह नाना प्रकार की सृष्टि प्रकाशित हुई है; और जो इसका धारण और प्रलय करता है, जो इसका अध्यक्ष है; और जिस व्यापक में यह सब जगत् उत्पत्ति, स्थिति और लय को प्राप्त होता है वही परमात्मा है, उसको तुम जानो; और दूसरे किसी को (जड़ प्रकृति आदि को) सृष्टिकर्त्ता मत मानों उपनिषद् भी यही कहते हैं :—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म।

— तैत्तिरीयोपनिषद्

जिस परमात्मा से यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई है, जिसमें यह जीवित रहती है; और जिसमें फिर लय को प्राप्त हो जाती है, वही परब्रह्म परमात्मा है। उसको जानने की इच्छा करो।

पुनर्जन्म

जीव अविनाशी और चेतन होने पर भी इच्छा द्वेष, प्रयत्न सुख, दुख, ज्ञान इत्यादि के वश कर्मों में फँसा रहता है; और कर्म ही उसके पुनर्जन्म के कारण होते हैं। कर्म का लक्षण गीता में इस प्रकार दिया है :—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः ॥

गीता, अ० ८

प्राणियों की सत्ता को उत्पन्न करनेवाली विशेष रचना को कर्म कहते हैं। कर्म त्रिगुणात्मक प्रकृति से उत्पन्न होता है; और प्रकृति में फँसकर ही जीव कर्म करता हुआ बन्धन में प्राप्त होता है; और उत्तम, मध्यम, नीच योनि में जाता है :—

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान् ।
कारणं गुणसंगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥

गीता, अ० १३-२१

प्रकृति में ठहरा हुआ जीव प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले सत्य, रज तम गुणों का भोग करता है; और इन गुणों का संग ही उसके ऊँच-नीच योनि में जन्म होने का कारण है :—

सत्वरजस्तम इति गुणा प्रकृतिसम्भवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥

गीता, अ० १४-५

सत्व, रज, तम ये प्रकृति से उत्पन्न होनेवाले तीनों गुण ही इस अविनाशी जीवात्मा को देह में बाँधते हैं, अर्थात् बार-बार जन्म लेने को बाध्य करते हैं। इससे सिद्ध है कि जो मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसा ही जन्म पाता है :—

देवत्वं सात्विका यान्ति मनुष्यत्वञ्च राजसाः ।
तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः ॥
मनु०, अ० १२-४०

सतोगुणी कर्म करनेवाले देवत्व को पाते हैं, अर्थात् ज्ञान के साथ उत्तम सुख का भोग करते हैं। रजोगुणी कर्म करनेवाले मनुष्यत्व को पाते हैं, अर्थात् रागद्वेष के साथ सुख-दुख का भोग करते हैं तथा जो तमोगुणी कर्म करते हैं, वे मनुष्येतर वृक्ष, पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि नीच योनियों में जाते हैं! इसी प्रकार जीव को कर्मानुसार सुख-दुख प्राप्त होता है।

संसार में देखा जाता है कि कोई मनुष्य विद्वान् धनी और सुखी है; और कोई मूर्ख, दरिद्री और दुखी है। यह सब उसके पूर्वजन्म के पाप-पुण्य-कर्मानुसार उसको सुख-दुख मिला है, और इस जन्म में जैसा वह कर रहा है, उसके अनुसार उसको अगले जन्म में फल मिलेगा। फिर भी कुछ कर्म ऐसे होते हैं कि जिनका फल जीव को इसी जन्म में मिल जाता है; और कुछ कर्म ऐसे होते हैं, जिनका फल हमको इस जन्म में कुछ भी दिखाई नहीं देता; और कुछ कर्म ऐसे हैं कि जिनको हम प्रत्यक्ष कुछ नहीं कर रहे हैं, और अनायास हमको फल मिल रहा है। इस प्रकार जीव के कर्म के तीन भेद किये गये हैं :—

संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। संचित कर्म वे हैं कि जो पूर्वजन्मों के किये हुए हैं; और उनके संस्कार बीजरूप से जीव के साथ रहते हैं। प्रारब्ध वह है कि जिसको जीव इस जन्म में अपने साथ भोगने के लिए ले आता है, और उस प्रारब्ध में से जिस भाग का वह इस जन्म में भोगने लगता है

उसको क्रियमाण कहते हैं। इससे ज्ञान पड़ता है कि जीव के साथ कर्म का सिलसिला लगा रहता है; और जब तक ज्ञान से उसके कर्मों का भोग न मिट जावे; और जब तक वह बिलकुल वासनारहित न हो जावे, तब तक उसको बार बार जन्म लेना पड़ेगा।

यह ध्यान में रहे कि कर्मयोनि में मनुष्य ही का जन्म है; और मनुष्येतर पशुपक्षी इत्यादि जो चौरासी लाख योनियाँ हैं वे सब भोगयोनियाँ हैं। उन योनियों में जीव को ज्ञान नहीं रहता। सिर्फ पूर्वकृत पापकर्मों का वह भोग करता है। फिर जब मनुष्ययोनि में आता है, तब उसके साथ ज्ञान और विवेक होता है, जिसके द्वारा वह भले-बुरे कर्मों का ज्ञान करके भले कर्मों के द्वारा उत्तम गति और बुरे कर्मों के द्वारा अधम गति प्राप्त करने में स्वतंत्र हो जाता है। जिस मार्ग से जाने की उसकी इच्छा हो, वह जावे। इसीलिए कहते हैं कि जीव कर्म करने में स्वतन्त्र और उसका फल भोगने में परतन्त्र है।

मनुष्य का जीव हो; और चाहे पशु-पक्षी का जीव हो— जीव सब का एक सा है। अन्तर केवल इतना है कि एक जीव पाप कर्मों के कारण मलीन और दूसरा पुण्यकर्मों के कारण पवित्र होता है। मनुष्य-शरीर में जीव पाप अधिक करता है, और पुण्य कम करता है, तब पशु आदि नीच शरीरों में जाता है; और जब पुण्य अधिक और पाप कम होता है, तब देवयोनि, अर्थात् विद्वान्, धार्मिक, ज्ञानी का शरीर मिलता है; और जब पाप-पुण्य बराबर होता है तब साधारण मनुष्य का शरीर मिलता है। इसी प्रकार स्त्री-जन्म पाकर यदि जीव पुरुषोचित उत्तम पुण्यकर्म करता है, तो स्त्रीयोनि से पुरुषयोनि भी पाता है।

पापपुण्य-कर्मों में भी उत्तम, मध्यम और निकृष्ट श्रेणियां हैं। कोई पुण्यकर्म उत्तम श्रेणी का होता है; कोई मध्यम या नीच श्रेणी का। इसी प्रकार पाप की भी तीन कोटियाँ हैं। इन्हीं कोटियों के अनुसार मनुष्यादि में उत्तम-मध्यम-निकृष्ट शरीर मिलता है। कर्मानुसार जन्म के अनेक भेद शास्त्रों में बतलाये गये हैं।

जब जीव का इस स्थूल शरीर से संयोग होता है; तब उसको जन्म कहते हैं, जब इससे जीव का वियोग हो जाता है, तब उसको मृत्यु कहते हैं। इस स्थूल शरीर को छोड़ने के बाद जीव सूक्ष्म शरीर से वायु में रहता है; और अपनी मृत्यु समय की तीव्र वासना के अनुसार जहाँ जाहता है, वहां जाता-आता रहता है। फिर, कुछ समय बाद, धर्मराज परमात्मा उसके पाप-पुण्य के अनुसार उसको जन्म देता है। जन्म लेने के लिए वह वायु, अन्न, जल, अथवा शरीर के छिद्र-द्वारा दूसरे शरीर में, ईश्वर की प्रेरणा से, प्रविष्ट होता है; और फिर क्रमशः वीर्य में जाकर, गर्भ में स्थित हो, शरीर धारण कर के बाहर आता है।

जीवात्मा के चार शरीर होते हैं। (१) स्थूल शरीर—जिसको हम देखते हैं; (२) सूक्ष्म शरीर—यह शरीर पांच प्राण, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच सूक्ष्मभूत और मन तथा बुद्धि; इन सत्रह तत्वों का समुदायरूप होता है। यह शरीर मृत्यु के बाद भी जीव के साथ रहता है; (३) कारण शरीर—इसमें सुषुप्ति, अर्थात् गाढ़ निद्रा होती है। यह शरीर प्रकृतिरूप होने के कारण सर्वत्र विभु (व्यापक) और सब जीवों के लिए एक माना गया है; (४) तुरीय शरीर—इसी शरीर के द्वारा जीव समाधि से परमात्मा के आनन्दस्वरूप में मग्न होता है। इस जन्म में जीवन्मुक्त पुरुष इसी शरीर के द्वारा ब्रह्मानन्द का भोग करते हैं;

और शरीर छोड़ने पर भी परमात्मा में लीन रहते हैं। सब असत्कर्मों का त्याग करके और शुद्ध दिव्य कर्मों को धारण करके मनुष्य उक्त शरीर की अवस्था का विकास अपने अन्दर करता है; और जन्म-मरण से छुटकारा पाकर निर्वाण पदवी प्राप्त करता है। वहाँ पर सांसारिक सुख-दुख नहीं है, एक ऐसे दिव्य आनन्द का अनुभव है जो बतलाया नहीं जा सकता।

मोक्ष

मोक्ष या मुक्ति छूट जाने को कहते हैं। जीवात्मा को जन्म-मरण इत्यादि के चक्र में पड़ने से जो तीन प्रकार के दुःख होते हैं, उनसे छूटकर अखण्ड ब्रह्मानन्द का भोग करना ही मोक्ष-प्राप्ति कहलाता है। भगवान् कपिल मुनि अपने सांख्यशास्त्र में कहते हैं :—

अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिर त्यन्तपुरुषार्थः।

सांख्यदर्शन

तीन प्रकार के दुःखों से बिलकुल ही निवृत्त हो जाना, यह जीव का सब से बड़ा पुरुषार्थ है। तीन प्रकार के दुःख कौन हैं ?

(१) आध्यात्मिक दुःख—जो शरीर-सम्बन्धी दुःख अपने अन्दर से ही उत्पन्न होते हैं; (२) आधिभौतिक दुःख—जो दूसरे प्राणियों या बाहर के अन्य पदार्थों से जीव को दुःख मिलता है; (३) आधिदैविक—अतिवृष्टि, अतिताप, अतिशीत, इत्यादि दैविक कारणों से, मन और इन्द्रियों की चंचलता के

कारण; जीव जो दुःख पाता है, उसको आधिदैविक दुःख कहते हैं। इन सब दुःखों से छूट जाने का नाम मोक्ष है।

मोक्ष किस प्रकार से प्राप्त हो सकता है? मोक्ष ज्ञान से ही मिल सकता है। सृष्टि से लेकर परमात्मा तक सब का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के धर्माचरण करना और अधर्म को छोड़ देना—यही मुक्ति का उपाय है। परमात्मा, जीवात्मा के अन्दर बैठा हुआ, मनुष्य को सदैव धर्म की ओर प्रवृत्त और अधर्म की ओर से निवृत्त किया करता है; परन्तु अज्ञान जीव उसकी प्रेरणा को नहीं सुनता है, और अधर्म में फँस कर जन्म मृत्यु के दुःखों मे फँसता है, देखिये, जब कोई मनुष्य धर्मयुक्त कर्मों को करना चाहता है, तब अन्दर से उसको स्वाभाविक ही आनन्द उत्साह, उमंग, निर्भयता इत्यादि का अनुभव होता है; और जब बुरा कर्म करना चाहता है, तब एक प्रकार का भय, लज्जा, सकोच, मालूम होता है। ये परस्पर-विपरीत भावनाएं जीव के अन्दर ईश्वर ही उठाता है; परन्तु जीव उनकी परवा न कर के, अज्ञान से, और का और करता और दुःख भोगता है। इस लिए क्षण क्षण पर अपनी आत्मा के अन्दर परमात्मा की आज्ञा सुनकर संसार में धर्मकार्य करते रहने से ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है।

जितने भी धर्म के कार्य हैं, उनको गीता में दैवी सम्पत्ति कहा गया है :—

अभयं सत्त्व संशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम् ॥२॥

तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥

गीता अ० १६

१ अभय, अर्थात् धर्म के कार्यों में कभी किसी से नहीं डरना। २ सत्वसंशुद्धि, अर्थात् जीवन को शुद्ध मार्ग में ही डरना। ३ ज्ञानयोग-व्यवस्थित, अर्थात् परमात्मा और सृष्टि के ज्ञान का यथार्थ विचार सदैव करते रहना। ४ दान, विद्यादान, अभय-दान इत्यादि ऐसी वस्तुएं सदैव दीनहीनों को देते रहना, जिनसे उनका कल्याण हो। ५ दम, मन को इन्द्रियों के अधीन न होने देना। ६ यज्ञ, अपने और संसार के कल्याण के कार्य सदैव करते रहना। ७ स्वाध्याय धर्मग्रन्थों का अध्ययन करके अपनी बुराइयों को सदैव दूर करते रहना। ८ तप, सत्यकार्य में शरीर मन, वाणी का उपयोग करना और उसमें कष्ट सहते हुए न घबड़ाना। ९ आर्जव, सदैव सरल बर्ताव करना—मन, वाणी और आचरण एक सा रखना। १० अहिंसा, किसी प्राणी को किसी प्रकार कष्ट न पहुँचाना। ११ सत्य, ईश्वर की आज्ञा के अनुसार मन, वचन, कर्म से चलना। १२ अक्रोध, अपने या दूसरे पर कभी क्रोध न करना १३ त्याग, दुर्गुणों को छोड़ना और अपने सद्गुणों का संसार के हित में उपयोग करना। १४ शान्ति, दुःख-सुख, हानि-लाभ, जीवन-मरण, निन्दा-स्तुति, यश-अपयश, इत्यादि में चित्त की समानता को स्थिर रखना। १५ अपैशून्य, किसी की निन्दा-स्तुति अनुचित रूप से न करना। १६ भूत दया, सब प्राणियों पर बराबर दया करना। १७ अलो-लुपता, किसी लालच में न पड़ना १८ मार्दव, सदैव मधुरता कोमलता धारण करना। १९ ह्री, लज्जा-मर्यादा को कभी न छोड़ना। २० अचपलता, चञ्चलता न करना; विवेक, गम्भीरता

धारण करना। २१ तेज—दुष्टता और दुष्टों, का दमन करना; २२ क्षमा, मौका देखकर दूसरों के छोटे-बड़े अपराधों को सहन करते रहना। २३ धृति, धर्म-कार्यों में विघ्न और कष्ट आवें, तो भी धैर्य न छोड़ते हुए उनको पूर्ण करना २४ शौच, मन और शरीर इत्यादि पवित्र रखना। २५ अद्रोह, किसी से वैर न बांधना। २६ न-अतिमानिता, अर्थात् बहुत अभिमान न करना, परन्तु आत्माभिमान न छोड़ना। ये २६ गुण ऐसे पुरुष में होते हैं, जो दैवी सम्पत्ति में उत्पन्न हुआ है।

अब आसुरी सम्पत्ति सुनिये :—

दम्भोदर्पोभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥

गीता, अ० १६

(१) दम्भ, झूठा आडम्बर, कपट छल धारण करना; (२) दर्प, गर्व मद या व्यर्थ की तेजस्विता दिखलाना, जिसको बन्दर घुड़की कहते हैं; (३) अभिमान, घमण्ड, अकड़बाजी दिखलाना; (४) क्रोध; (५) कठोरता; (६) अज्ञान; यथार्थ ज्ञान न होना; इत्यादि आसुरी सम्पत्ति के लक्षण हैं।

इन आसुरी सम्पत्ति के लक्षणों को छोड़ने और दैवी सम्पत्ति का अपने जीवन में अभ्यास करने से ही मोक्ष मिल सकता है :—

दैवीसम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।

गीता, अ० १६

दैवी सम्पत्ति मोक्ष का और आसुरी सम्पत्ति बन्धन का कारण मानी गई है। इसलिये दैवी सम्पत्ति का अभ्यास कर के जो योगाभ्यास अथवा ईश्वर की भक्ति के द्वारा परमात्मा का

ज्ञान प्राप्त करके उसमें स्थित होता है, वह मोक्ष को पाता है यदि इसी जन्म में ऐसा अभ्यास कर ले; और इसी शरीर के रहते हुए सांसारिक सुखदुःखों से छूटकर परमात्मा में मग्न रहे तो उसको जीवन्मुक्त कहते हैं : –

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥
योऽन्तः सुखोन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः ।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ॥
लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

गीता, अ० ५

जो पुरुष इस संसार में, शरीर छूटने के पहले ही, काम और क्रोध से उत्पन्न हुए वेग को सह सकता है, वही योगी है, वही सुखी है। जो अपने अन्दर ही सुख मानता है; और उसी में रमता है, तथा आत्मा के अन्दर जो प्रकाश है, उसी से जो प्रकाशित है, वह ब्रह्म को प्राप्त होकर उसी में लीन होता है। जिनके पाप सत्कर्मों से क्षीण हो चुके हैं, जिन्होने सब द्विविधाओं को छोड़ दिया है, अपने आपको जीत लिया है, सम्पूर्ण संसार के उपकार में लगे रहते हैं, वही ऋषि मोक्ष पाते हैं।

ऐसे जो जीवनमुक्त हो चुके हैं, उनका शरीर चाहे बना रहे, चाहे छूट जाय, वे दोनों दशाओं ब्रह्मानन्द में लीन हैं। जब उनका शरीर छूट जाता है, तब भी उनके जीव के साथ जीव की स्वाभाविक शक्ति विद्यमान रहती है। इसी का नाम परम गति है :—

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ॥

कठोपनिषद्

जब मन के सहित पांचों ज्ञानेन्द्रियां अपनी चञ्चलता छोड़ देती हैं; और बुद्धि का निश्चय भी स्थिर हो जाता है, तब उस दशा को परम गति, अर्थात् मोक्ष कहते हैं।

यों देखने में तो जीव किसी एक जन्म में मोक्ष प्राप्त करता है; परन्तु यह एक जन्म का काम नहीं है। अनेक पूर्वजन्मों से मोक्ष के लिए जिसको अभ्यास होता आता है, वही किसी जन्म में मोक्ष प्राप्त करता है। एक जन्म में पुण्य-कर्म करते-करते जब जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाता है, तब दूसरे जन्म में फिर वह उसी कार्य को शुरू करता है, और इस प्रकार धर्माचरण का प्रयत्न करते हुए अनेक जन्मों में उसको मोक्षसिद्धि होती है :—

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धिस्ततो याति परां गतिम् ॥

गीता, अ० ६

बहुत यत्न के साथ जब साधन करता है तब योगी, जिसके पाप कट गये हैं, अनेक जन्म के बाद, सिद्धि, प्राप्त करता हुआ परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होता है। उपनिषद् भी यही कहती है :—

भिद्यन्ते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परऽवरे ॥

मुण्डकोपनिषद् ।

जब इस जीव के हृदय की अविद्या, या अज्ञानरूपी गांठ, कट जाती है, और तत्वज्ञान से इसके सब संशय छिन्न हो जाते हैं,

तथा जितने दुष्ट कर्म हैं, सब जिस समय क्षय हो जाते हैं उस समय जीव परमात्मा को, जो आत्मा के भीतर-बाहर व्याप्त हो रहा है, देखता है। यही उसकी मुक्ति की दशा है। मुक्ति की दशा में जीव स्वतन्त्र होकर परमात्मा में वास करता है; और इच्छानुसार सब लोकों में घूम सकता है, तथा तब कामनाओं का भोग करता है :—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।
सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति॥

तैत्तिरीयोपनिषद्

जो जीवात्मा अपनी बुद्धि और आत्मा में स्थित सत्य, ज्ञान और अनन्त आनन्दस्वरूप परमात्मा को जानता है, वह उस व्यापकरूप ब्रह्म में स्थित होकर उस 'विपश्चित्' अर्थात् अनन्त विद्या-युक्त, ब्रह्म के साथ सब कामनाओं को प्राप्त होता है, अर्थात् जिस आनन्द की कामना करता है, उस आनन्द को पाता है।

मनुष्य-जन्म का यही परम पुरुषार्थ है।

छठवाँ खण्ड

सूक्ति-संचय

"वाग्भूषणं भूषणम्"

—राजर्षि भर्तृहरि

विद्या

मातेव रक्षति पितेव हिते नियुंक्ते
कान्तेव चाभिरमयत्यपनीय खेदं ।
लक्ष्मीं तनोति वितनोति च दिक्षु कीर्तिम्
किं किं न साधयति कल्पलतेव विद्या ॥१॥

विद्या माता की तरह रक्षा करती है, पिता की तरह हित के कामों में लगाती है, स्त्री की तरह खेद को दूर कर के मनोरंजन करती है, धन को प्राप्त कराकर चारो ओर यश फैलाती है। विद्या कल्पलता के समान क्या क्या सिद्ध नहीं करती? अर्थात् सब कुछ करती है ॥१॥

रूपयौवनसम्पन्ना विशालकुलसम्भवाः ।
विद्याहीना न शोभन्ते निर्गन्धा इव किंशुकाः ॥२॥

रूप और यौवन से सम्पन्न तथा ऊंचे कुल में उत्पन्न हुआ पुरुष बिना विद्या के निर्गन्ध पलास-पुष्प की भांति शोभा नहीं देता ॥२॥

यः पठति लिखति पश्यति परिपृच्छति पण्डितानुपाश्रयति ।
तस्य दिवाकरकिरणैर्नलिनीदलमिव विकास्यते बुद्धिः ॥३॥

जो पढ़ता है, लिखता है, देखता है, पूछता है, पण्डितों का साथ करता है, उसकी बुद्धि का इस प्रकार विकास होता है जैसे सूर्य की किरणों से कमल ॥३॥

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्वला,
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः ।
वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम् ॥४॥

जोशन-बजुल्ला अथवा रत्नों के उज्ज्वल हार इत्यादि पहनने से मनुष्य की शोभा नहीं; और न स्नान, चन्दन, पुष्प और बाल सवारने से ही उसकी कुछ शोभा है—वास्तव में मनुष्य की शोभा सुन्दर और सुशिक्षित वाणी से ही है। अन्य सब आभूषण क्षीण हो जाते हैं। एक वाणी ही ऐसा भूषण है जो सच्चा भूषण है।

सत्संगति

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं,
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥१॥

सत्संगति बुद्धि की जड़ता को हर लेती है, वाणी को सत्य से सींचती है, मान को बढ़ाती है, पाप को हटाती है, चित्त को प्रसन्न करती है, यश को फैलाती है। कहो, सत्संगति मनुष्य के लिए क्या क्या नहीं करती ॥१॥

सज्जनसंगो मा भूद्यदि संगो माऽस्तु त पुनः स्नेहः।
स्नेहो यदि मा विरहो यदि विरहो माऽस्तु जीवितस्याशा ॥२॥

सज्जन का संग न हो! यदि संग हो तो फिर स्नेह न हो! यदि स्नेह हो, तो फिर विरह न हो! और यदि विरह हो, तो फिर जीवन की आशा न हो! ॥२॥

वंशभवो गुणवानपि संगविशेषेण पूज्यते पुरुषः।
नहि तुम्बीफलविकलो वीणादण्डः प्रयाति महिमानम् ॥३॥

कुलीन और गुणवान् होने पर भी संग-विशेष से ही मनुष्य

का आदर होता है। देखो, तुम्बीफल के बिना वीणादण्ड की कोई महिमा नहीं होती ॥३॥

रे जीव सत्संगमवाप्नु हि त्वमसत्प्रसङ्गं त्वरया विहाय।
धन्योऽपि निन्दां लभते कुसङ्गात् सिन्दूरबिन्दुर्विधवाललाटे ॥४॥

रे जीव, तू बुरी संगति छोड़कर शीघ्र ही सत्संगति का ग्रहण कर; क्योंकि बुरी संगति से भला आदमी भी निन्दित होता है—जैसे विधवा के मस्तक में सिन्दूर का बिन्दु ॥४॥

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन सत्संगमञ्च लभते पुरुषो यदा वै।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकारनाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥५॥

जब मनुष्य का अनेक जन्मों का भाग्य उदय होता है, तब उसको सत्संगति प्राप्त होती है; और सत्संगति के प्राप्त होने से जब उसका अज्ञानजन्य मोह और मद का अन्धकार नाश हो जाता है, तब विवेक का उदय होता है ॥५॥

सन्तोष

सर्पाः पिबन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवन्ति।
कन्दैः फलैर्मुनिवराः क्षपयन्ति कालं
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥१॥

सर्प लोग हवा पीकर रहते हैं, तथापि वे दुर्बल नहीं हैं। जंगल के हाथी सूखे तृण खाकर रहते हैं, फिर भी वे बली होते हैं। मुनिवर लोग कन्द मूल फल खाकर ही कालक्षेप करते हैं। सन्तोष ही मनुष्य का परम धन है ॥१॥

वयमिह परितुष्टा वल्कलैस्त्वं दुकूलैः
सम इह परितोषो निर्विशेषो विशेषः ।
स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला ।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥२॥

हम छाल के कपड़े पहन कर ही सन्तुष्ट हैं, तुम सुन्दर रेशमी वस्त्र पहनते हो। दोनों में सन्तोष बराबर ही है। कोई विशेषता नहीं। वास्तव में दरिद्र वही है, जिसमे भारी तृष्णा है। जहाँ मन सन्तुष्ट है, वहाँ कौन धनवान् है, कौन दरिद्र है ॥२॥

अर्थी करोति दैन्यं लब्धार्थो गर्वपरितोषम् ।
नष्टधनश्च स शोकं सुखमास्ते निस्पृहः पुरुषः ॥३॥

धन की इच्छा करने वाला दीनता दिखलाता है; जो धन कमा लेता है, वह अभिमान में चूर रहता है; और जिसका धन नष्ट हो जाता है, वह शोक करता है, इसलिये जो निस्पृह है, सन्तोषी है वही सुख में रहता है ॥३॥

अकिञ्चनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमयाः दिशाः ॥४॥

जो अकिञ्चन है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसका हृदय शान्त है, चित्त स्थिर है, मन सदैव सन्तुष्ट है, उसकी सम्पूर्ण दिशाएँ सुखमय हैं ॥४॥

साधुवृत्ति

छिन्नोऽपि चन्दनतरुर्न जहाति गन्धम्।
वृद्धोऽपि वारणपतिर्न जहाति लीलाम्।
यन्त्रार्पितो मधुरतां न जहाति चेक्षुः
क्षीणोऽपि न त्यजति शीलगुणान्कुलीनः ॥१॥

चन्दन का वृक्ष काटा हुआ भी गन्ध को नहीं छोड़ता, गजेन्द्र वृद्ध होने पर भी क्रीड़ा नहीं छोड़ता, ईख कोल्हू में देने पर भी मिठास नहीं छोड़ती। कुलीन पुरुष क्षीण हो जाने पर भी अपने शीलगुणों को नहीं छोड़ता ॥१॥

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः
सत्यव्रता रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये
धन्या नरा विहितकर्मपरोपकाराः ॥२॥

जिनका मन विद्या के विलास में तत्पर रहता है, जो शील-स्वभावयुक्त हैं, सत्य ही जिनका व्रत है, जो अभिमान से रहित हैं, जो दूसरों के दोषों को भी दूर करने वाले हैं, संसार के दुःखों का नाश करना जिनका भूषण है—इस प्रकार जो परोपकार के कार्यों में ही लगे रहते हैं, उन मनुष्यों को धन्य है ॥२॥

उदयति यदि भानुः पश्चिमे दिग्विभागे
प्रचलति यदि मेरुः शीततां याति वह्निः।
विकसति यदि पद्मं पर्वताग्र शिलायाम्
न भवति पुनरुक्तं भाषितं सज्जनानाम् ॥३॥

चाहे सूर्य पूर्व को छोड़कर पश्चिम दिशा की ओर उदय हो, चाहे सुमेरु पर्वत अपने स्थान से टल जाय, चाहे आग

शीतलता को धारण कर ले; और चाहे पर्वत की शिलाओं में कमल फूलने लगें; पर सज्जनों का वचन नहीं बदल सकता ॥३॥

वदनं प्रसादसदनं सदयं हृदयं सुधामुचो वाचः ।
करणं परोपकरणं येषां न ते वन्द्याः ॥४॥

जो सदैव प्रसन्नवदन रहते हैं, जिनका हृदय दया से पूर्ण है, जिनकी वाणी से अमृत टपकता है; जो नित्य परोपकार करते हैं—ऐसे मनुष्य किसको वन्दनीय नहीं हैं ? ॥४॥

सपदि विलयमेतु राजलक्ष्मीरुपरि पतन्त्वथवा कृपाणधाराः
अपहरतुतरां शिरः कृतान्तो ममतु मतिर्न मनागपैतु धर्मात् ॥५॥

चाहे अभी मेरा राज्य चला जाय, अथवा ऊपर से तलवारों की धारें बरसें, मेरा सिर अभी काल के हवाले हो जाय; परन्तु मेरी मति धर्म से न पलटे ॥५॥

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन दानेन पाणिर्न तु कङ्कणेन ।
विभाति कायः करुणापराणां परोपकारैर्न तु चन्दनेन ॥६॥

कान शास्त्रों के सुनने से शोभा पाते हैं; कुण्डल पहनने से नहीं। हाथ दान से सुशोभित होते हैं; कङ्कण से नहीं। दयाशील पुरुषों के शरीर की शोभा परोपकार से है, चन्दन से नहीं ॥६॥

विपदि धैर्यमथाभ्युदये क्षमा सदसि वाक्पटुता युधि विक्रमः ।
यशसि चाभिरुचिर्व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम् ॥७॥

विपत्ति में धैर्य, ऐश्वर्य में क्षमा, सभा में वचन चातुरी, युद्ध में वीरता, यश में प्रीति, विद्या में व्यसन—ये बातें महात्माओं में स्वाभाविक ही होती हैं ॥७॥

करे श्लाघ्यस्त्यागः शिरसि गुरुपादप्रणयिता ।
मुखे सत्या वाणी विजयि भुजयोर्वीर्यमतुलम् ।

हृदि स्वच्छावृत्तिः श्रुतमधिगतैकव्रतफलम् ।
विनाप्यैश्वर्येण प्रकृति महतां मण्डनमिदम् ॥८॥

कर से सुन्दर दान देते हैं, सिर से बड़ों के चरणों से गिरते हैं, मुख से सत्य वाणी बोलते हैं, अतुल बलवाली भुजाओं से संग्राम में विजय प्राप्त करते हैं, हृदय में शुद्ध वृत्ति रखते हैं, कानों से पवित्र शास्त्र सुनते हैं—बिना किसी ऐश्वर्य के भी महापुरुषों के यही आभूषण हैं ॥८॥

वनेऽपि दोषाः प्रभवन्ति रागिणां गृहेषु पंचेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥९॥

जिनका मन विषयों में फँसा हुआ है, उनसे, बन में रहने पर भी, दोष होते हैं, पांचों इन्द्रियों का निग्रह करने से घर में भी तप हो सकता है। जो लोग सत्कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं, और विषयों से मन को हटा चुके हैं, उनके लिए घर ही तपोवन है ॥९॥

धैर्यं यस्य पिता क्षमा च जननी शान्तिश्चिरं गेहिनी
सत्यं सूनुरयं दया च भगिनी भ्राता मनः संयमः ।
शय्या भूमितलं दिशोऽपि वसनं ज्ञानामृतं भोजन-
मेते यस्य कुटुम्बिनो वद सखे कस्माद्भयं योगिनः ॥१०॥

धैर्य जिनका पिता है, क्षमा मातृ है, शान्ति स्त्री है, सत्य पुत्र है, दया बहन है, संयम भाई है, पृथ्वी शैया है, दिशा ही वस्त्र है, ज्ञानामृत भोजन है—इस प्रकार जिनके सब कुटुम्बी मौजूद हैं, उन योगियों को अब और किस बात की आवश्यकता रह गई ॥१०॥

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते निघर्षणच्छेदनताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते त्यागेन शीलेन कर्मणा ॥११॥

"जिस प्रकार सोने की चार तरह से—अर्थात् घिसने से,

काटने से, तपाने से और पीटने से परीक्षा होती है, उसी प्रकार मनुष्य की भी चार तरह से—अर्थात् त्याग, शील, गुण और कर्म से—परीक्षा होती है ॥११॥

परधनहरणे पङ्गुः परदारनिरीक्षणेऽप्यन्धः ।
मूकः परापवादे स भवति सर्वप्रियो जगतः ॥१२॥

दूसरे का धन हरण करने में जो पङ्गु है, और दूसरे की स्त्री को कुदृष्टि से देखने में जो अन्धा है, तथा दूसरे की निन्दा करने में जो गूँगा है, वह संसार में सब को प्यारा होता है ॥१२॥

विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥१३॥

दुष्टों के पास विद्या विवाद के लिए, धन गर्व के लिए और शक्ति दूसरे को कष्ट देने के लिए होती है; परन्तु साधु लोग इन सब वस्तुओं का उससे विपरीत उपयोग करते हैं—अर्थात् विद्या से ज्ञान बढ़ाते हैं, धन से दान करते हैं; और शक्ति से निर्बलों की रक्षा करते हैं ॥१३॥

दुर्जन

दुर्जनः प्रियवादी च नैतद्विश्वासकारणम् ।
मधु तिष्ठति जिह्वाग्रे हृदि हलाहलं विषम् ॥१॥

दुर्जन लोग मधुरभाषी होते हैं, पर यह बात उनके विश्वास का कारण नहीं हो सकती, क्योंकि उनकी जिह्वा में तो मिठास होता है, पर हृदय में हलाहल विष भरा रहता है ॥१॥

दुर्जनं प्रथमं वन्दे सज्जनं तदनन्तरम् ।
मुखप्रचालनात्पूर्वं गुदप्रक्षालनं यथा ॥२॥

दुष्ट को पहले नमस्कार करना चाहिये—सज्जन को उसके बाद । जैसे मुँह धोने के पहले गुदा को धोते हैं ॥२॥

अहो प्रकृतिसादृश्यं श्लेष्माणो दुर्जनस्य च ।
मधुरैः कोपमायाति तिक्तकेनैव शाम्यति ॥३॥

देखो, श्लेष्मा और दुष्ट की प्रकृति में कितनी समता है—दोनों मिठाई से बिगड़ते हैं और कड़ुआई धारण करने से शान्त हो जाते हैं ॥३॥

गुणगणगुम्फितकाव्ये मृगयति दोषं गुणं न जातु खलः ।
मणिमयमन्दिरमध्ये पश्यति पिपीलिका छिद्रम् ॥४॥

अनेक गुणों से भरे हुए काव्य में भी दुष्ट लोग दोष ही ढूँढ़ते हैं, गुण की तरफ ध्यान नहीं देते—जैसे मणियों से जड़े हुए सुन्दर महल में भी चींटी छिद्र ही देखती है ॥४॥

एते सत्पुरुषा परार्थघटकाः स्वार्थं परित्यज्य ये
समान्यान्तु परार्थमुद्यमभृतः स्वार्थाविरोधेन ये ।
तेऽमी मानवराक्षसाः परहितं स्वार्थाय विघ्नन्ति ये
ये विघ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे ॥५॥

सत्पुरुष वे हैं, जो अपना स्वार्थ त्याग करके दूसरे का हित करते हैं । जो अपने स्वार्थ को न बिगाड़ते हुए दूसरे का भी हित करते हैं, वे साधारण मनुष्य हैं। जो अपने स्वार्थ के लिए दूसरे का हित का नाश करते हैं वे मनुष्य के रूप में राक्षस हैं । परन्तु जो बिना मतलब ही दूसरे के हित की हानि करते रहते हैं, वे कौन हैं, सो हम नहीं जानते ॥५॥

मित्र

अपि सम्पूर्णता युक्तैः कर्तव्या सुहृदो बुधैः ।
नदीशः परिपूर्णोऽपि चन्द्रोदयमपेक्षते ॥१॥

चाहे सब प्रकार से भरा-पूरा हो; परन्तु फिर भी बुद्धिमान् मनुष्य को मित्र अवश्य बनाना चाहिये; देखो समुद्र सब प्रकार से परिपूर्ण होता है; परन्तु चन्द्रोदय की इच्छा फिर भी रखता है ॥१॥

मित्रवान्साधयत्यर्थान् दुस्साध्यानपि वै यतः ॥२॥
तस्मामिन्त्राणि कुर्वीत समानान्वेव चात्मनः ॥२॥

जिसके मित्र हैं, वह मनुष्य कठिन कार्यों को भी सिद्ध कर सकता है, इसलिए अपने समान योग्यता वाले मित्र अवश्य बनाने चाहिएँ ॥२॥

पापान्निवारयति योजयते हिताय
गुह्यानि गूहति कुणान्प्रकटीकरोति ।
आपद्गतं च न जहाति ददाति काले
सन्मित्रलक्षणमिदं प्रवदन्ति सन्तः ॥३॥

पापों से बचाता है, कल्याण में लगाता है, छिपाने योग्य बातों को छिपाता है, गुणों को प्रकट करता है, आपत्ति में साथ नहीं छोड़ता, समय पर सहायता देता है, ये सन्मित्र के लक्षण सन्त लोग बतलाते हैं ॥३॥

आतुरे व्यसने प्राप्ते दुर्भिक्षे शत्रुसंकटे ।
राजद्वारे श्मशाने च यस्तिष्ठति स बान्धवः ॥४॥

पीड़ा के समय, व्यसनों में फंसने पर, दुर्भिक्ष में; शत्रुओं

से संकट प्राप्त होने पर, राजद्वार अर्थात् कोई मुकदमा इत्यादि लगने पर, श्मशान में जो ठहरता है, वही भाई है ॥४॥

आरम्भगुर्वी क्षयिणी क्रमेण लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात् ।
दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम् ॥५॥

जैसे दोपहर के पहले छाया प्रारम्भ में तो बड़ी और फिर क्रमशः क्षय को प्राप्त होती जाती है ; और दोपहर के बाद की छाया पहले छोटी और फिर बराबर बढ़ती ही जाती है; वैसे ही दुष्टों और सज्जनों की मित्रता भी क्रमशः सुबह और शाम के पहर की छाया की भांति घटने-बढ़नेवाली होती है ॥५॥

परोक्षे कार्यहन्तारं प्रत्यक्षे प्रियवादिनम् ।
वर्जयेत्तादृशं मित्रं विषकुम्भं पयोमुखम् ।६।।

पीछे तो कार्य की हानि करते रहते हैं; और आगे मधुर वचन बोलते रहते हैं। इस प्रकार के विष भरे हुए घड़े के समान मित्रों को, कि जिनके सिर्फ मुख पर ही दूध लगा है, छोड़ देना चाहिए ॥६॥

मुखंप्रसन्नं विमला च दृष्टिः कथाऽनुरागो मधुरा च वाणी ।
स्नेहोऽधिकःसम्भ्रमदर्शनञ्च सदानुरक्तस्य जनस्य लक्षणम् ॥७॥

प्रसन्न मुख, विमल दृष्टि, वार्तालाप में प्रेम, मधुर वाणी, स्नेह अधिक, बार बार मिलने की इच्छा, इत्यादि प्रेमी मित्र के लक्षण हैं ॥७॥

बुद्धिमान

अपमानं पुरस्कृत्य मानं कृत्वा च पृष्ठतः ।
स्वार्थं च साधयेद्धीमान् स्वार्थभ्रंशो हि मूर्खता ॥१॥

अपमान को आगे लेकर और मान को पीछे हटाकर बुद्धिमान् मनुष्य को अपना मतलब साधना चाहिए; क्योंकि स्वार्थ का नाश करना मूर्खता है ॥१॥

दाक्षिण्यं स्वजने दया परजने, शाठ्यं सदा दुर्जने
प्रीतिः साधुजने स्मयः खलजने विद्वज्जने चार्जवम् ।
शौर्यं शत्रुजने क्षमा गुरुजने नारीजने धूर्तता ।
इत्थं ये पुरुषाः कलासु कुशलास्तेष्वेव लोकस्थितिः ॥२॥

अपने लोगों के साथ उदारता, दूसरों पर दया, दुर्जनों के साथ शठता, साधुओं पर भक्ति, दुष्टों के साथ अभिमान, विद्वानों के साथ सरलता शत्रुओं के साथ शूरता, बड़े लोगों के साथ क्षमा, स्त्रियों के साथ चतुरता—इस प्रकार जो मनुष्य बर्त्ताव करने में कुशल हैं, वही संसार में रह सकते हैं और उन्हीं से संसार रह सकता है ॥२॥

उदीरितोर्थः पशुनापि गृह्यते हयाश्च नागाश्च वहन्ति देशितः
अनुक्तमप्यूहति पण्डितो जनः परेङ्गितज्ञानफला हि बुद्धयः ॥३॥

कही हुई बात को तो पशु भी समझ लेते हैं । देखो, हाथी, घोड़े इत्यादि संकेत से ही काम करते हैं; लेकिन पण्डित लोग बिना कही हुई बात भी जान लेते हैं; क्योंकि उनकी बुद्धि दूसरे की चेष्टाओं से ही बात को लख सकती है ॥३॥

कोलाहले काककुलस्य जाते विराजते कोकिलकूजितं किम् ।
परस्परं संवदतां खलानां मौनं विधेयं सततं सुधीभिः ॥४॥

कौओं के कांव-कांव में कोकिल की कूक कहीं अच्छी लगती है ? दुष्ट लोग जब आपस में झगड़ रहे हों, तब बुद्धिमान् का चुप रहना ही अच्छा ॥४॥

न स्वल्पस्य कृते भूरि नाशयेन्मतिमान्नरः ।
एतदेवात्र पाण्डित्यं यत्स्वल्पात् भूरिरक्षणम् ॥५॥

बुद्धिमान् मनुष्य को थोड़े के लिए बहुत का नाश न करना चाहिए । बुद्धिमानी इसी में है कि थोड़े की अपेक्षा बहुत की रक्षा करे ॥५॥

मूर्ख

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयः पानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्धनम् ॥१॥

मूर्ख लोगों को उपदेश करने से वे और कुपित होते हैं, शान्त नहीं होते । सर्प को दूध पिलाने से केवल विष ही बढ़ता है ॥१॥

मुक्ताफलैः किं मृगपक्षिणां च मिष्टान्नपानं किमु गर्दभाणाम् ।
अन्धस्य दीपो बधिरस्य गीतं मूर्खस्य किं सत्यकथाप्रसङ्गः ॥२॥

मृग और पक्षियों इत्यादि को मुक्ताफलों से क्या काम ? गधों को सुन्दर भोजन से क्या मतलब ? अन्धे को दीपक और बहरे को सुन्दर गीत का क्या उपयोग ? इसी प्रकार मूर्ख मनुष्य को सत्यकथा से क्या काम ? ॥२॥

शक्यो वारयितुं जलेन हुतभुक् छत्रेण सूर्यातपो ।
नागेन्द्रो निशिताङ्कुशेन समदो दण्डेन गोगर्दभौ ॥

व्याधिर्भेषजसंग्रहैश्च विविधैर्मन्त्रप्रयोगैर्विषम् ।
सर्वस्योषधिमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम् ॥३॥

जल से अग्नि का शमन किया जा सकता है, छत्ते से प्रचंड धूप रोकी जा सकती है, मतवाला हाथी भी अंकुश से वश में किया जा सकता है, बैल गधे इत्यादि भी डंडे से रास्ते पर लाये जा सकते हैं, अनेक प्रकार की ओषधियों से रोगों का भी इलाज किया जा सकता है, नाना प्रकार के मंत्रों के प्रयोग से विष भी दूर किया जा सकता है; इस प्रकार सब का इलाज शास्त्र में कहा है ; पर मूर्ख की कोई ओषधि नहीं ॥३॥

मूर्खस्य पंच चिन्हानि गर्वो दुर्वचनं तथा ।
क्रोधश्च दृढवादश्च परवाक्येष्वनादरः ॥४॥

मूर्ख के पांच चिन्ह हैं—अभिमान, कठोर वचन, क्रोध, हठ और दूसरे के वचनों का निरादर ॥४॥

यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।
एव हि शास्त्राणि बहून्यधीत्य चार्थेषु मूढा खरवद्वहन्ति ॥

जैसे किसी गधे के ऊपर चन्दन लदा हो, तो वह सिर्फ अपने बोझ का ही ज्ञान रखता है, चन्दन के गुण का उसे कुछ भी ज्ञान नहीं । इसी प्रकार बहुत शास्त्र पढ़ा हुआ भी यदि उसका अर्थ नहीं जानता, तो वह केवल गधे के समान ही उस शास्त्र का भार ढोनेवाला है ॥५॥

येषां न विद्या न तपो न दानं न शीलं न गुणो न धर्मः ।
ते मर्त्यलोके भुविभारभूता मनुष्यरूपेण मृगाश्चरन्ति ॥६॥

जिनमें, विद्या, तप, दान, ज्ञान, शील, गुण, धर्म कुछ नहीं है, वे इस मृत्युलोक में, पृथ्वी के भाररूप, मनुष्य के वेष में पशु हैं ॥६॥

पण्डित और मूर्ख

इभतुरगरथैः प्रयान्ति मूढा धनरहिता विबुधाः प्रयान्ति पद्भ्याम् ।
गिरिशिखरगताऽपि काकपंक्तिः पुलिनगतैर्न समत्वमेति हंसैः ॥१॥

मूर्ख लोग हाथी-घोड़े और रथ पर चलते हैं—गरीब पंडित बेचारे पैदल ही चलते हैं (परन्तु क्या इससे मूर्ख धनवान् गरीब पंडित की बराबरी कर सकते हैं?) ऊँचे पर्वत पर चलनेवाली कौओं की पंक्ति नीचे नदी तीर चलनेवाली हंस-श्रेणी की समता नहीं कर सकती ॥१॥

शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् ।
सुचिन्तितं चौषधमातुराणां न नाममात्रेण करोत्यरोगम् ॥२॥

शास्त्र पढ़े हुए भी लोग मूर्ख होते हैं। वास्तव में जो उस शास्त्र के अनुसार चलता है, वही विद्वान् है। खूब सोची-समझी हुई औषधि भी नाममात्र से किसी रोगी को चंगा नहीं कर सकती ॥२॥

विद्वानेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम् ।
न हि वंध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम् ॥३॥

विद्वान् पुरुष का परिश्रम विद्वान् ही जान सकता है। वंध्या स्त्री प्रसव की पीड़ा कभी नहीं जान सकती ॥

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम् ।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन च ॥४॥

बुद्धिमान् मनुष्यों का समय सदैव काव्य और शास्त्र के विनोद में व्यतीत होता है; और मूर्ख लोगों का समय व्यसन, निद्रा अथवा लड़ाई-झगड़े में जाता है ॥४॥

एकता

अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका ।
तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ॥१॥

छोटी छोटी वस्तुओं की भी एकता कार्य को सिद्ध करने वाली होती है। तिनकों के मेल से बना हुआ रस्सा मत्त हाथियों को भी बाँध सकता है ॥१॥

न वै भिन्ना जातु चरन्ति धर्मम् न वै सुखं प्राप्नुवन्तीह भिन्नाः ।
न वै भिन्ना गौरवं प्राप्नुवन्ति न वै भिन्नाः प्रशमं रोचयन्ति ॥२॥

जिन लोगों में फूट है, वे न तो धर्म का आचरण कर सकते हैं, न सुख प्राप्त कर सकते हैं, न गौरव प्राप्त कर सकते हैं, और न शान्ति का आनन्द ही पा सकते हैं ॥२॥

बहवो न विरोद्धव्या दुर्जयांस्तेऽपि दुर्बलाः ।
स्फुरन्तमपि नागेन्द्रं भक्षयन्ति पिपीलिकाः ॥३॥

चाहे दुर्बल भी हों; परन्तु वे सुसंगठित, संख्या में अधिक हैं, तो उनसे विरोध न करना चाहिये; क्योंकि वे दुर्बल होने पर संख्या में अधिक हैं, इसलिये मुश्किल से जीते जा सकते हैं। देखो—फुसकारते हुए साँप को भी चीटियाँ मिलकर खा जाती हैं ॥३॥

वयं पंच वयं पंच वयं पंच शतं च ते ।
अन्यैः सह विवादे तु वयं पंच शतं च वै ॥४॥

यों तो (आपस में लड़ने से) हम (पांडव) पांच और वे (कौरव) सौ हैं ; पर जहां दूसरे के साथ झगड़ा आ पड़े; हम सब को मिलकर एक सौ पांच हो जाना चाहिये ॥४॥

यत्रात्मीयो जनो नास्ति भेदस्तत्र न विद्यते ।
कुठारे दण्डनिर्मुक्ते भिद्यन्ते तरवः कथम् ॥५॥

जहाँ अपना कोई नहीं; वहां भेद फूट नहीं सकता है। बिना दण्डे की कुल्हाड़ी वृक्षों को कैसे काट सकती है। "कुल्हाड़ी का दण्डा अपने गोत का लाल होता है" ॥५॥

कुठारमालिकां दृष्ट्वा कम्पिताः सकला द्रुमाः ।
वृद्धस्तरुरुवाचेदं स्वजातिर्नैव दृश्यते ॥६॥

कुल्हाड़ियों के झुण्ड को देखकर सारे वृक्ष कांपने लगे; पर उनमें एक बुड्ढा वृक्ष था, उसने कहा (भाई कांपते क्यों हो, ये खाली कुल्हाड़ियां कुछ नहीं कर सकतीं) इनमें अपनी जाति का (दण्डा) तो कोई दिखाई नहीं देता। (जब तक कोई अपने गिरोह का शत्रुओं के समूह में घुसकर भेद नहीं देवे, तब तक प्रबल शत्रु-समूह भी कुछ नहीं कर सकता ॥६॥

स्त्री

कार्येषु मन्त्री करणेषु दासी भोज्येषु माता शयनेषु रम्भा ।
धर्मानुकूला क्षमया धरित्री षाड्गुण्यमेतद्धि पतिव्रतानाम् ॥१॥

पतिव्रता स्त्रियों में छै गुण होते हैं—१ कार्य में मन्त्री के समान उचित सलाह देती है, २ सेवा करने में दासी के समान आराम देती है; ३ भोजन कराने में माता के समान ध्यान रखती है। ४ शयन के समय रम्भा अप्सरा के समान सुख देती है; ५ धर्मकार्यों में सदा अनुकूल रहती है; और ६ क्षमा में पृथ्वी के समान सहनशील होती हैं ॥१॥

भ्रमन्संपूज्यते राजा भ्रमन्सपूज्यते धनी।
भ्रमन्संपूज्यते विद्वान् स्त्री भ्रमन्ती विनश्यति ॥२॥

राजा, धनी और विद्वान् लोग तो घूमते फिरते हुए पूजे जाते हैं; परन्तु स्त्री घूमती-फिरती हुई नष्ट अथवा भ्रष्ट हो जाती है ॥२॥

सा कविता सा वनिता यस्याः श्रवणेन दर्शनेनापति।
कविहृदयं पतिहृदयं सरलं तरलं च सत्वरं भवति ॥३॥

कविता वही है, और वनिता वही है कि जिसके श्रवण करने और दर्शन करने मात्र से कवि का हृदय और पति का हृदय तुरन्त ही प्रसन्न और द्रवित हो जाता है ॥३॥

पूजनीया महाभागाः पुण्याश्च गृहदीप्तयाः।
स्त्रियः श्रियो गृहस्योक्तास्तस्माद्राक्ष्या विशेषतः ॥

स्त्रियां घर की लक्ष्मी हैं, इसलिए वे पूज्य हैं, बड़े भाग्य-वाली हैं, पुण्यशीला हैं, घर की दीप्ति हैं। उनकी रक्षा विशेष रूप से करनी चाहिए ॥४॥

———

परस्त्री-निषेध

परिहरतु परांगनानुषंगं इदमतिजीवितमस्ति वल्लभं चेत्।
हर परिहारिणीहर्शोनिमित्तं दश देशकन्धरमौलयो लुठन्ति ॥१॥

यदि मनुष्य को अपने प्राण प्यारे हैं, तो वह पर स्त्री के संसर्ग को छोड़ देवे। देखो, सीता का हरण करने के कारण दस सिरवाले रावण के भी दसों सिर धरती पर गिरा दिये गये ॥१॥

अपसर मधुकरी दूकेकुसुमेलमलेकरपतिञरिऽहुरं ।
इह न हि मधुलवलाभो भवति परं धूलिधूसरं वदनम् ॥२॥

हे मधुकर ! बहुत परागवाले केतकी-कुसुम से भी दूर ही रहो । यहां रस तो जरा भी नहीं मिलेगा—हां मुख धूल से अवश्य भर जायगा ॥२॥

रक्षःपतिर्जनकजाहरणेन वाली—
तारापहारविधिना स च कीचकोऽपि ।
पांचालिकाप्रमथनान्निधनं जगाम
तस्मात्कदापि परदाररतिं न कुर्यात् ॥३॥

सीता के हरण से रावण, तारा के हरण से बालि और द्रौपदी को छेड़ने से कीचक मारे गये । इस लिए पर स्त्री से कभी संसर्ग न करो ॥३॥

तप्तांगारसभा नारी घृतकुम्भसमः पुमान् ।
तस्मात् वह्नि घृतं चैव नैकत्र स्थापयेद् बुधः ॥४॥

स्त्री जलते हुए अङ्गार की तरह है; और पुरुष घी के घड़े के समान है । इस लिए आग और घी, दोनों को बुद्धिमान् लोग एक जगह न रखें ॥४॥

पश्यति परस्य युवती सकाममपि तन्मनोरथं कुरुते ।
ज्ञात्वैव तदप्राप्तिं व्यर्थं मनुजो हि पापभाग्भवति ॥५॥

मनुष्य दूसरे की युवती स्त्री देखता है; और यह जानते हुए भी कि यह मुझको मिलेगी नहीं, कामातुर होकर उसके पाने की इच्छा करता है ! अपने इस व्यवहार से वह वृथा पाप का भागी बनता है ॥५॥

दैव

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे विनश्यति ॥१॥

ईश्वर जिसकी रक्षा करता है; वह अन्य किसी की रक्षा के बिना भी सुरक्षित रहता है; और ईश्वर जिसके अनुकूल नहीं है, वह सुरक्षित होने पर भी नाश हो जाता है। अनाथ बच्चा वन में छोड़ देने पर भी जीवित रहता है; और बड़े यत्न से पाला-पोषा हुआ भी घर में नाश होता है ॥१॥

अनुकूलतामुपगते हि विधौ सफलत्वमेति लघुसाधनता ।
प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ॥२॥

परमात्मा के अनुकूल होने पर थोड़ा साधन भी सफल हो जाता है; और प्रतिकूल होने पर बहुत साधन भी विफल हो जाता है ॥२॥

न निर्मितः येन न दृष्ट पूर्वो न श्रूयते हेममयः कुरंगः ।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य विनाशकाले विपरीति बुद्धिः ॥३॥

सोने का हिरन न कभी पैदा हुआ; और न किसी ने देखा, न सुना, फिर भी श्रीरामचन्द्रजी को उसके प्राप्त करने का लालच समाया। विनाश-काल आने पर बुद्धि विपरीत हो जाती है ॥३॥

सृजति तावदशेषगुणाकरं पुरुषरत्नमलंकरणं भुवः ।
तदपि तत्क्षणभंगि करोति चेदहह कष्टमपण्डितताविधेः ॥

बड़े बड़े गुणवान् पुरुष-रत्नों को, कि जो इस पृथ्वी के भूषण स्वरूप है, रचता है; परन्तु फिर भी उनको क्षणभंगुर करता है! हा कष्ट! दैव की यह मूर्खता! ॥४॥

परगृह-गमन

अयममृतनिधानं नायकोऽप्योषधीना-
ममृतमय शरीरः कान्तियुक्तोऽपि चन्द्रः।
भवति विगतरश्मिर्मण्डलं प्राप्य भानोः
परसदननिविष्टः को लघुत्वं न याति ॥१॥

चन्द्रमा अमृत का भण्डार है; ओषधियों का पति है, इसका शरीर अमृतमय है, कान्तियुक्त है, फिर भी जब यह सूर्य के मण्डल में जाता है; तब (अमावस को) इसका तेज नष्ट हो जाता है। (सच है) दूसरे के घर जाने से कौन लघुता को नहीं प्राप्त होता ॥१॥

एह्यागच्छ समाश्रयासनमिदं कस्म च्चिरात् दृश्यसे।
का वर्ता कुशलोऽसि बालमहितः प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ॥
एवं ये समुपागतान्प्रणयिना प्रह्लादयन्त्यादरात्।
तेषां युक्तमशंकितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा ॥२॥

"आइये, यहां पर विराजिये, आसन मौजूद है, बहुत दिन के बाद दर्शन दिये, कहिये, क्या समाचार है ? बाल बच्चों-सहित कुशल से तो हैं ? आपके दर्शन से मुझे बड़ा आनन्द हुआ"—इस प्रकार जो अपने घर आये हुए प्रेमियों को आदर-पूर्वक प्रसन्न करते हैं उनके घर में सदा, बिना किसी संकोच के जाना चाहिए ॥२॥

नाभ्युत्थानक्रिया यत्र नालापा मधुराक्षराः।
गुणदोषकथा नैव तत्र हर्म्ये न गम्यते ॥३॥

जहां पर कोई उठकर लेवे भी नहीं; और न मधुर वचनों से बोले; और न किसी प्रकार की गुण-दोष की बात ही पूछे, उस घर में न जाना चाहिए ॥३॥

अतिपरिचयादवज्ञा संततगमनादनादरो भवति ।
मलये भिल्लपुरन्ध्री चन्दनतरुकाष्ठमिंधनं कुरुते ॥४॥

अति परिचय, अर्थात् बहुत जान-पहचान, हो जाने से अवज्ञा होती; और हमेशा जाते रहने से अनादर होता है। मलयाचल पर्वत पर भिल्लों की स्त्रियां चन्दन-वृक्ष के काठ ही को इंधन बनाकर जलाती हैं ॥४॥

राजनीति

नृपस्य परमो धर्मः प्रजानां परिपालनम् ।
दुष्टनिग्रहणं नित्यं नऽनीत्या ते विसाह्युमे ॥१॥

प्रजा का पालन और दुष्टों का निग्रह राजा का परम धर्म है ; पर ये दोनों ही बातें बिना नीति जाने नहीं हो सकतीं ॥१॥

राजा बन्धुरबन्धूना राजा चक्षुरचक्षुषाम् ।
राजा पिता च माता च सर्वेषा न्यायवर्त्तिनाम् ॥२॥

राजा अबन्धुओं का बन्धु है, और अन्धों की आंख है। वही सबका माता-पिता है—यदि वह न्याय से चलता हो ॥२॥

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पदः ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया ॥३॥

जैसे भौंरा फूलों को बिना हानि पहुँचाये—उनकी रक्षा करते हुए—मधु ग्रहण कर लेता है, वैसे ही राजा को उचित है कि, प्रजा को बिना किसी प्रकार की हानि पहुँचाये, कर ले लिया करे ॥३॥

मोहाद्राजा स्वराष्ट्रं यः कर्षयत्यनवेक्षया ।
सोऽचिराद् भ्रश्यते राज्याज्जीविताच्च सबान्धवः ॥४॥

जो राजा मोह या लालच में अन्धा होकर अपनी प्रजा को पीड़ित करता है, वह राज्य से शीघ्र ही भ्रष्ट हो जाता है; और अपने भाइयों-सहित अपने जीवन से हाथ धो बैठता है। (अर्थात् प्रजा बिगड़कर उसके राज्य को छीन लेती है; और उसको उसके आदमियों सहित मार डालती है।) ॥४॥

हिरण्यधान्यरत्नानि यानानि विविधानि च ।
तथान्यदपि यत्किंचित्प्रजाभ्यः स्यान्महीपतेः ॥५॥

सोना-चांदी, धन-धान्य, रत्न और विविध प्रकार के वाहन इत्यादि जो कुछ भी राजा के पास है, वह सब प्रजा से ही प्राप्त हुआ ॥५॥

विद्याकलानां वृद्धिः स्यात्तथा कुर्यान्नृपः सदा ।
विद्याकलोत्तमान्दृष्ट्वा वत्सरे पूजयेच्च तान् ॥६॥

इस लिए राजा अपनी प्रजा के अन्दर विद्या और कलाकौशल इत्यादि की सदैव वृद्धि करते रहना चाहिए; और प्रति वर्ष, जो लोग इनमें विशेष योग्यता दिखलावे, उनको, पूजते रहना चाहिए ॥६॥

नरपतिहितकर्त्ता द्वेष्यतां याति लोके
जनपदहितकर्त्ता त्यज्यते पार्थिवेन्द्रैः ।
इति महतिविरोधे वर्त्तमाने समाने
नृपतिजनपदानां दुर्लभः कार्यकर्त्ता ॥७॥

जो राजा का हितकर्त्ता होता है, प्रजा उससे द्वेष करती है, और यदि प्रजा के हित की तरफ विशेष ध्यान देता है, जो राजा उसे छोड़ देता है। यह बड़ी कठिनाई है। इस कठिनता को

सम्हालते हुए, एक ही समय में, दोनों का बराबर हित करता हुआ चला जाय, ऐसा कार्यकर्त्ता दुर्लभ है ॥७॥

नराधिपा नीचजनानुवर्त्तिनो बुधोपदिष्टेन पथा यांति ये।
विशन्त्यतो दुर्गममार्गनिर्गमं समस्तसंबाधमनर्थपंजरम् ॥८॥

जो राजा नीच जनों के बहकावे में आकर विवेकशील पुरुषों के बतलाये हुए मार्ग में नहीं चलते, वे चारों ओर से घिरे हुए ऐसे पिंजरे में पड़ जाते हैं कि जहां से निकलना फिर उनके लिए कठिन हो जाता है।

नियुक्तहस्तार्पितराज्यभारास्तिष्ठन्ति ये सौधविहारसाराः।
विडालवृन्दार्पितदुग्धपूराः स्वपन्ति ते मूढधियः क्षितीन्द्राः ॥९॥

जो राजा अपनी नौकरशाही के हाथ में सारा राज्यप्रबन्ध सौंपकर आप महलों के भोग-विलास में पड़े रहते हैं, वे मूर्ख राजा मानों बिलारों के झुण्ड को दुग्ध का भंडार सौंपकर आप बेखबर सो रहे हैं! ॥९॥

राज्ञो हि रक्षाधिकृताः परस्यादायिनः शठाः।
भृत्या भवन्ति प्रायेण तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः ॥१०॥

राजा के अधिकारी-गण प्रायः दूसरों के धन और माल को अन्याय से लूटा करते हैं, उनसे प्रजा की रक्षा करना राजा का परम कर्तव्य है ॥१००॥

प्रजास्ताः साधुभूतेन व्यवहारं विचिन्तयेत्।
न भृत्यपक्षपाती स्यात्प्रजापक्षं समाश्रयेत् ॥११॥

अधिकारी लोग प्रजा के साथ कैसा बर्त्ताव करते हैं, इस बात की जांच राजा को पक्षपातरहित होकर करना चाहिए।

अधिकारियों का पक्ष न लेकर सदैव प्रजा का पक्ष लेना चाहिये ।

कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारानपि मर्शयेत् ।
काले काले च मतिमानुत्तिष्ठेत्कृष्णसर्पवत् ॥१२॥

बुद्धिमान राजा को कछुए की तरह अङ्ग सिकोड़ कर शत्रु की चोटें सहनी चाहिये; परन्तु समय समय पर काले सर्प की तरह फुङ्कार उठ कर खड़ा होना चाहिये ॥१२॥

उत्खातान्प्रतिरोपयन्कुसुमितांश्चिन्वन् लघून्वर्धयन्
अत्युच्चान्नमयन्नतान्समुदयन्विश्लेषयन्संहतान् ।
[illegible] निरसयन्म्लानान् पुनः सेचयन्
मालाकारइव प्रपंचचतुरो राजा चिरं नन्दति ॥१३॥

उखड़े हुओं को जमाता हुआ, फूले हुओं का चुनता हुआ, छोटों को बढ़ाता हुआ, ऊँचों को लचाता हुआ, और लचे हुओं को उठाता हुआ, सङ्गठनवालों को छिन्नभिन्न करता हुआ, क्रूरों और कंटकियों को बाहर निकालता हुआ, कुम्हलाये हुओं को फिर सींचता हुआ, माली की तरह प्रपञ्च में चतुर राजा बहुत दिन राज्य-सुख भोगता है ॥१३॥



कूटनीति

निर्विषेणापि सर्पेण कर्त्तव्या महती फणा ।
विषमस्तु न चाप्यस्तु खटाटोपो भयंकरः ॥१॥

सर्प में चाहे विष न हो, परन्तु फिर भी उसको अपना फण उभारना चाहिये, क्योंकि विष हो; चाहे न हो, केवल खटाटोप भी दूसरे को डरवाने के लिए काफी है ॥१॥

नात्यन्त सरलैर्भाव्यं गत्वा पश्य वनस्थलीम् ।
छिद्यन्ते सरलास्तत्र कुब्जास्तिष्ठन्ति पादपाः ॥२॥

बहुधा सीधा नहीं बनना चाहिये । वन में जाकर देखो । वहाँ सीधे सीधे सब काट डाले गये; और टेढ़े वृक्ष खड़े हैं ॥२॥

असती भवति सलज्जा क्षारं नीरं च निर्मलं भवति ।
दम्भी भवति विवेकी प्रियवक्ता भवति धूर्तजना. ॥३॥

कुलटा स्त्री लज्जावती बनती है, खारा पानी निर्मल दिखाई देता है, दम्भी विवेकी बनता है, और धूर्त मनुष्य मीठे वचन बोलनेवाले होते हैं ॥

यस्मिन्यथा वर्त्तते यो मनुष्यः तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः ।
मायाचारो मायया वर्तितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥४॥

जिसके साथ जो मनुष्य जैसा वर्ताव करे, वह भी उसके साथ वैसा ही वर्ताव करे—यही धर्म है । कपटी के साथ कपट का ही बर्ताव करना चाहिए, और साधु के साथ सज्जनता का व्यवहार करना चाहिए ॥४॥

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य निघ्नन्ति शठास्तथाविधा न संवृताङ्गं निशिता इवेषवः ॥५॥

जो मनुष्य कपटी के साथ कपट का ही बर्ताव नहीं करते, वे मूर्ख हार खाते हैं; क्योंकि ऐसे भोले-भाले मनुष्यों को धूर्त लोग इस प्रकार मार डालते हैं, जैसे कवच-रहित मनुष्य को को बाण, उसके शरीर में प्रविष्ट होकर, मार डालते हैं ॥५॥

साधारण नीति

तावद् भयेषु भेतव्यं यावद् भयमनागतम् ।
आगतं तु भयं दृष्ट्वा प्रहर्तव्यमशंकया ॥१॥

भय को तभी तक डरना चाहिये, जब तक कि वह आया नहीं; और जब एक बार आ आवे, तब निश्शंक होकर आक्रमण करना चाहिये ॥११॥

न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा वृद्धा न ते ये न वदन्ति धर्मम् ।
धर्मः स नो यत्र न सत्यमस्ति सत्यं न तद्यच्छलेनाभ्युपेतम् ॥२॥

वह सभा नहीं, जिसमें वृद्ध न हों। वे वृद्ध नहीं, जो धर्म न बतलावें। वह धर्म नहीं; जिसमें सत्य न हो; और वह सत्य नहीं, जो छल से भरा हो ॥२॥

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥१॥

परतन्त्रता एक बड़ा भारी दुःख है; और स्वतन्त्रता ही सब से बड़ा सुख है। संक्षेप में यही सुखदुःख का लक्षण है ॥३॥

न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्
यथा किराती करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम् ॥४॥

जो जिसके गुण का प्रभाव नहीं जानता वह उसकी सदा

निन्दा करता है, इसमें कोई विचित्रता नहीं। देखो, भिल्लिनी गजमुक्ता को छोड़ कर घुँघचियों की माला पहनती है ॥४॥

अग्निरापः स्त्रियो मूर्खः सर्पो राजकुलानि च।
नित्यं यत्नेन सेव्यानि सद्यः प्राणहराणि षट् ॥५॥

अग्नि, जल, स्त्री, मूर्ख, सर्प, राजवंश इनका सदा, सावधानी के साथ सेवन करना चाहिये; क्योंकि ये छै तत्काल प्राण को हरनेवाले हैं ॥५॥

प्रिय वचनवादी प्रियो भवति विमृशितकार्यं करोऽधिकं जयति।
बहुमित्रकरः सुखं वसते यश्च धर्मरतः स गतिं लभते ॥६॥

प्रिय वचन बोलने वाला प्रिय होता है, विचार पूर्वक अच्छा काम करने वाला विशेष सफलता प्राप्त करता है, बहुत मित्र बनानेवाला सुखी रहता है; और जो धर्म में रत रहता है, वह सद्गति पाता है ॥६॥

स्तब्धस्य नश्यति यशो विषमस्य मैत्री
नष्टेन्द्रियस्य कुलमर्थपरस्य धर्मः।
विद्याफलं व्यसनिनः कृपणस्य सौख्यं
राज्यं प्रमत्तसचिवस्य नराधिपस्य ॥७॥

चुप बैठ रहनेवाले का यश नाश हो जाता है, जिनका चित्त एक समान नहीं होता, उनकी मित्रता नष्ट हो जाती है, जो इन्द्रियों के नष्ट होते हैं—यानी दुराचारी होते हैं, उनका कुल नष्ट हो जाता है, व्यसनों में फँस जानेवालों का विद्या-फल नष्ट हो जाता है, लालची का सुख नष्ट हो जाता है; और जिस राजा का मंत्री प्रमादी यानी लापरवाह होता है, उसका राज्य नष्ट हो जाता है ॥७॥

काके शौचं द्यूतकारे च सत्यं सर्पे क्षान्तिर्यौवने कामशान्तिः।
क्लीवे धैर्यं मद्यपे तत्वचिन्ता राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ॥६॥

कौवे में पवित्रता, जुआरी में सत्य, सर्प में क्षमा, युवावस्था में काम की शान्ति, नपुंसक में धैर्य, मद्यपी में विवेक; और राजा मित्र—ये बातें किसी ने देखी अथवा सुनी हैं ? ॥८॥

कोतिभारः समार्थानां किं दूर व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥६॥

शक्तिशाली पुरुष के लिए कौन सा काम बहुत भारी है ? व्यवसायी के लिए कौन सा देश बहुत दूर है ? विद्वान् के लिए कहाँ विदेश है ? प्रिय बोलने वाले के लिए कौन पराया है ॥६॥

कुग्रामवासः कुलहीनसेवा कुभोजनं क्रोधमुखी च भार्या।
पुत्रश्च मूर्खो विधवा च कन्या विनाग्निना षट् प्रदहन्ति कायम् ॥१०॥

कुग्राम का वास, नीच की सेवा, बुरा भोजन, क्रोधमुखी भार्या, मूर्ख पुत्र, विधवा कन्या, ये छै बातें, बिना अग्नि के ही शरीर को जलाती हैं ॥१०॥

कान्तावियोगः स्वजनापमानो रणस्य शेषः कुनृपस्य सेवा।
दरिद्रभावो विषमा सभा च विनाग्निमेते प्रदहन्ति कायम् ॥११॥

स्त्री का वियोग, अपने ही लोगों के द्वारा किया हुआ अपमान, रण से बचकर भगा हुआ वैरी, बुरे राजा की सेवा निर्धनता, फुटवाली सभा, ये बिना अग्नि के शरीर जलाती हैं।

व्यवहार-नीति

चिन्तातुराणां न सुखं न निद्रा अर्थातुराणां स्वजनो न बन्धुः ।
कामातुराणां न भयं न लज्जा क्षुधातुराणां न बलं न तेजः ॥

चिन्तातुर मनुष्य को न सुख है, न निद्रा है । धन के लिए आतुर मनुष्य को न कोई स्वजन है, और न बन्धु है । कामातुर मनुष्य को न भय है, न लज्जा है । और क्षुधातुर के पास न बल है, न तेज है ॥१॥

रूपं जरा सर्वसुखानि तृष्णा खलेषु सेवा पुरुषाभिमानम् ।
याञ्चा गुरुत्वं गुणमात्मपूजा चिन्ता बलं हन्त्यदया च धर्मम् ॥२॥

बुढ़ापा रूप को, लालच सारे सुख को, दुष्ट की सेवा पुरुष के अभिमान को, याचना बड़प्पन को, अपनी प्रशंसा गुण को चिन्ता बल को, और निर्दयता धर्म को नाश कर देती है ॥२॥

नीचरोमनखश्मश्रुः सुवेषोऽनुल्बणोज्ज्वलः ।
सातपत्रपदत्राणो विचरेद्युगमात्रदृक् ॥३॥

रोम, नख, दाढ़ी-मूछ इत्यादि हजामत के बाल बनवा-कटवा कर छोटे रखना चाहिए—बहुत बड़े बड़े न रखना चाहिए । स्वच्छ वस्त्राभूषण इत्यादि धारण करके सभ्यता का भेष रखना चाहिए । हाथ में छाता और पैर में जूता इत्यादि धारण करके चार कदम आगे देख कर चलना चाहिए ॥३॥

स्थानेष्वेव नियोक्तव्या भृत्याश्चाभरणानि च ।
न हि चूडामणिः पादे नूपुरं मूर्ध्नि धार्यते ॥४॥

नौकरों को और आभूषणों को अपनी अपनी जगह ठीक ठीक नियुक्त करना चाहिए; क्योंकि शीशफूल पैर में और पाजेब सिर पर धारण नहीं किया जा सकता ॥४॥

शनैः पंथा शनैः कथा शनैः पर्वतमस्तके ।
शनैर्विद्या शनैर्वित्तं पंचैतानि शनैः शनैः ॥५॥

रास्ता चलना, कथरी गूँथना, पर्वत के मस्तक पर चढ़ना, विद्या पढ़ना, धन जोड़ना—ये पाँच बात धीरे ही धीरे होती हैं ॥५॥

दाने तपसि शौर्ये वा विज्ञाने विनये नये ।
विस्मयो न हि कर्त्तव्यः बहुरत्ना वसुन्धरा ॥६॥

दान में, तप में, शूरता में, विज्ञान में विनय में और नीतिमत्ता में विस्मय नहीं करना चाहिए; क्योंकि पृथ्वी बहुत रत्नोंवाली है—सारांश यह कि पृथ्वी पर एक से एक बड़े दानी, तपस्वी, शूरवीर, विज्ञानवेत्ता, विनयशील और नीतिज्ञ पुरुष पड़े हुए हैं।

धनधान्यप्रयोगेषु विद्या संग्रहणेषु च ।
आहारे व्यवहारे च त्यक्तलज्जः सुखी भवेत् ॥७॥

धनधान्य के व्यवहार में, विद्या पढ़ने में और आहार व्यवहार में लज्जा छोड़ देने से ही सुख मिलता है ॥ ॥

काल नियम्य कार्याणि ह्याचरेन्नान्यथा क्वचित् ।
गच्छेदनियमेनैव सदैवान्तःपुरं नरः ॥८॥

समय को बांधकर सब काम सदैव करना चाहिए। अनियमित रूप से कभी आचरण न करना चाहिए । हाँ, घर के अन्दर अनियमित रूप से भी सदैव जाते रहना चाहिए ॥८॥

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये ।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन् किं कारणं भोज भवामि मूर्खः ॥९॥

मैं खाता हुआ मार्ग नहीं चलता हूँ, और बहुत बात करते हुए बहुत हँसता नहीं हूँ। गये हुए का शोच नहीं करता; और

जहाँ दो आदमी एकान्त में बात करते हों, वहाँ मैं (तीसरा) जाता भी नहीं—फिर हे राजा भोज, मैं मूर्ख क्यों हूँ ? ॥९॥

प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम् ।
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति ॥१०॥

प्रथमा अवस्था में विद्या नहीं सम्पादित की, दूसरी अवस्था में धन नहीं उपार्जित किया, तीसरी अवस्था में पुण्य नहीं कमाया, तो फिर चौथी अवस्था—बुढ़ापे—में क्या करेंगे ? ॥१०॥

कुराजराज्येन कुतः प्रजासुखं कुमित्रमित्रेण कुतोऽभिनिर्वृतिः ।
कुदारदारैश्च कुतो गृहे रतिः कुशिष्यमध्यापयतः कुतो यशः ॥१२॥

अन्यायी राजा के राज्य में प्रजा को सुख कहाँ, कपटी मित्र की मित्रता में सुख कहां ? दुर्गुणी स्त्री के साथ घर में सुख कहां ? और खराब शिष्य को पढ़ाने से यश कहां ? ॥११॥

स्फुट

वपुः कुब्जीभूतं गतिरपि तथा यष्टिशरणा
विशीर्णा दन्तालिः श्रवणविकलं श्रोत्रयुगुलम् ।
शिरः शुक्लं चक्षुस्तिमिरपटलैरावृतमहो
मनो मे निर्लज्जं तदपि विषयेभ्यः स्पृहयति ॥१॥

कमर टेढ़ी पड़ गई है, लाठी के सहारे चलता हूँ, दांत टूट गये हैं, कान बहरे हो रहे हैं, सिर के बाल सफेद हो रहे हैं, आंखों के सामने अँधेरा छाया रहता है, तथापि मेरा यह निर्लज्ज मन विषयों की ही इच्छा करता है ॥१॥

क्वचिद्विद्वद्गोष्ठी क्वचिदपि सुरामत्तकलहः
क्वचिद्वीणा वाद्यः क्वचिदपि च हाहेति रुदितम् ।
क्वचिद्रम्या रामा क्वचिदपि जराजर्जर तनुः ।
न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः ॥२॥

कहीं विद्वान् लोग सभा कर रहे हैं, कहीं शराबी लोग मस्त होकर लड़ रहे हैं; कहीं वीणा बज रही है, कहीं हाय हाय कर के लोग रो रहे हैं; कहीं सुन्दर रमणीय स्त्रियाँ दिखाई दे रही हैं, कहीं बुढ़ापे से जीर्णजर्जर शरीर। जान नहीं पड़ता कि यह संसार अमृतमय है अथवा विषमय ॥२॥

बन्धनानि खलु सन्ति बहूनि प्रेमरज्जु दृढ बंधनमाहुः ।
दारुभेदनिपुणोऽपि षड ङ्घ्रिर्निष्क्रियो भवति पङ्कजकोशे ॥३॥

संसार में बहुत प्रकार के बंधन हैं, परन्तु प्रेम का बंधन सब से अधिक मजबूत है—देखो भौंरा, जो काठ में भी छेद कर देता है, वही जब कमल-कोश में रात को बँध जाता है, तब कुछ नहीं कर सकता ॥३॥

चित्ते भ्रान्तिर्जायते मद्यपानात् भ्रान्ते चित्ते पापचर्यामुपैति ।
पापं कृत्वा दुर्गतिं यान्ति मूढाः तस्मान्मद्यं नैव पेयं न पेयम् ॥४॥

मद्यपान से चित्त में भ्रान्ति उत्पन्न होती है, और चित्त में भ्रान्ति हो जाने से पाप की तरफ मन चलता है, पाप करने से दुर्गति होती है। इसलिए मद्यपान कभी न करना चाहिये।

वार्ता च कौतुकवती विमला च विद्या
लोकोत्तरः परिमलश्च कुरंगनाभेः ।
तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवार-
मेतत्त्रयं प्रसरति स्वयमेव लोके ॥५॥

कौतूहल उत्पन्न करने वाली वार्त्ता, सुन्दर विमल विद्या और कस्तूरी की गन्ध—ये तीन स्वयं सब जगह फैल जाती है, रोके नहीं रुक सकतीं—जिस प्रकार पानी में तेल का बूंद ॥५॥

अर्थाःपादरजः समा गिरिनदीवेगोपमं यौवनम् ।
आयुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवनम् ॥
दानं यो न करोति निश्चलमतिर्भोगं न भुंक्ते च यः ।
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥६॥

धन पैरों की धूल के समान है, जवानी पहाड़ी नदी के वेग के समान शीघ्रगामी है, आयु जल के चंचल बिन्दु के समान अस्थिर है, जीवन पानी के फेन के समान क्षणभंगुर है। ऐसी दशा में भी जो स्थिरबुद्धि होकर दान नहीं करते हैं; और न सुख भोगते हैं, वे बुढ़ापे में पछता कर शोक की आग में जलते हैं ॥६॥

परिशिष्ट भाग

जप-यज्ञ

भगवान् कृष्ण ने गीता के १० वें अध्याय में अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए एक जगह कहा है—

"यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि।"

गीता १०-२५

जितने प्रकार के यज्ञ, यानी परमार्थ के कार्य हैं, उन सब में जपयज्ञ मैं हूँ। क्योंकि जप एक बहुत ही सरल प्रक्रिया है सिद्धि प्राप्त करने के लिए; अन्यान्य यज्ञों में बहुत साधन सामग्री की आवश्यकता होती है; परन्तु जप यज्ञ में सिवाय भगवान् के नाम के और किसी [illegible] उपकरण की जरूरत नहीं। जरूरत है सिर्फ मन के एकाग्र करने की—

मनः संहृत्य विषयान् मंत्रार्थगतमानसः।
न द्रुतं न विलम्बं च जपेन्मौक्तिकपंक्तिवत्॥

मन को विषयों से चारों ओर से खींचकर उसको अपने इष्टदेव के नाम अथवा मंत्र के अर्थ में लगावे; और न बहुत जल्दी और न बहुत देर से, इस प्रकार से जपे जैसे मोतियों की माला।

जप से हम मानो अपने देवता को एक रटन से भीतर ही भीतर पुकार रहे हैं। उसके गुणों का साथ ही साथ स्मरण हो रहा है। इस प्रकार जब कुछ देर लगन लग जाती है, तब बाह्य विषयों के प्रति हमारे सामने बिलकुल अन्धकार और उस काले "बैक ग्राउण्ड" यानी परदे के ऊपर हमारे इष्टदेव का रूप प्रकाशित होकर हमारे सामने आता है। इस प्रकार नाम जपते-जपते रूप हमारे सामने प्रकट होता है। हमको सांसारिक अनुभव है कि जब हम अत्यन्त उत्सुक होकर एक ही रटन से,

लगन के साथ, किसी का नाम लेकर हृदय से पुकारते हैं, तब वह हमारा प्रेमी हमारे सामने आकर किसी न किसी रूप में उपस्थित हो जाता है, फिर भगवान् तो सर्वव्यापक हैं, वह हम से कहीं दूर नहीं। लेकिन हम आर्त होकर उसको पुकारते ही नहीं। इसलिए वह हमारे निकट होते हुए भी हम से बहुत दूर है। हम उससे प्रेम बढ़ावें और उसका नाम ले लेकर किसी रूप में भी—किसी अपने इष्टदेव के रूप में—उसको पुकारें, तो वह अवश्य तुरन्त हमारे सामने प्रकट होगा। सब रूप उसी के तो हैं। सब गुण उसी के तो हैं। सब नाम उसी अन्तर्यामी के हैं। वह हमारे सामने प्रकट होगा, तो जो कुछ चाहो, उससे मांग लो—

जपेन देवता नित्यं स्तुयमाना प्रसीदति।
प्रसन्ना विपुलान्भोगान् दद्यान्मुक्तिं च शाश्वतीम्॥

नाम ले लेकर देवताओं को जब हम आर्त होकर उत्सुकता पूर्वक एकाग्रचित्त से एक ही रटन से लगन के साथ पुकारते हैं, तब इस जपयज्ञ से देवताओं की एक प्रकार से स्तुति हो जाती है; और उस स्तुति से वे प्रसन्न होते हैं। और प्रसन्न होकर वे देवता बहुत प्रकार के भोग—भोग ही क्या—शाश्वत अर्थात् कभी नाश न होनेवाली मुक्ति तक दे देते हैं। भुक्ति और मुक्ति दोनों जप से सुलभ हैं।

जप से देवता तो प्रसन्न होते ही हैं इसके सिवाय और भी जितनी सांसारिक विघ्न बाधाएं हैं, जप करनेवाले भक्त के सामने नहीं आतीं—

यक्षराक्षसवेताल भूतप्रेतपिशाचकाः।
जपाश्रयद्विजं दृष्ट्वा दूरं यान्ति भीतितः॥

यक्ष, राक्षस, वैताल, भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि जितनी विघ्नकारक और बाधक शक्तियाँ हैं, सब जप का आश्रय लेने वाले

भक्त को दूर से ही डर कर भागती है। जपी भक्त चारों ओर से निर्भय होकर स्वानन्द-साम्राज्य का भोग करता है।

जप कितने प्रकार से किया जाता है। एक जप साधारण होता है, जिसमें हम साधारण तौर पर जिह्वा से आवाज निकालते हैं; और उसको हम स्वयं ही कानों से सुनते हैं; और किसी के कान तक नहीं जाता, और दूसरे साधारण जप में इतने जोर से हम आवाज निकालते हैं कि जिसको हम भी सुनते हैं; और दूसरे लोगों के कानों तक आवाज पहुँचती है। इसके बाद "उपांशु" जप होता है, जिसमें आवाज इतनी भी नहीं निकलती कि जिसे हम स्वयं सुन सकें, दूसरे तो क्या सुन सकेंगे। हां, इसमें सिर्फ जीभ और होंठ भर हमारे हिलते हैं। फिर तीसरा मानस जप होता है, जिसमें आवाज तो क्या, हमारी जीभ और होंठ भी नहीं हिलते। यह मन ही मन उच्चरित होता है। ये सभी जप अपेक्षाकृत एक दूसरे से श्रेष्ठ माने गये हैं। मनुजी कहते हैं—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः साहस्रो मानसः स्मृतः॥

मनु० २।८५

पञ्च महायज्ञ इत्यादि जितने विधियज्ञ हैं, जपयज्ञ उनसे दशगुना श्रेष्ठ है; परन्तु उपांशु जप उनसे चौगुना और मानस जप हजार गुना श्रेष्ठ है। ध्यान में रहे कि किसी प्रकार का भी जप हो, हमारा मन नाम, मन्त्र और उसके अर्थ तथा गुणों में ही रहना चाहिए। अनन्य भाव से देवता में हम को तल्लीन हो जाना चाहिए। तभी सिद्धि प्राप्त होगी।

सब मंत्रों में गायत्री मंत्र का जप श्रेष्ठ है। क्योंकि इसमें प्रणव ओंकार ईश्वर का सर्वश्रेष्ठ नाम, तीन व्याहृतियाँ

सम्पूर्ण ब्राह्मण्ड की वाचक, और सावित्री ऋचा, जिसमें भगवान् के गुण कर्म स्वभाव का सर्वोत्तम संकेत है। यह मंत्र तीनों वेदों का सार स्वरूप है। मनुजी ने कहा है--

एतदक्षरमेतां च जपन् व्याहृतिपूर्विकाम्।
सन्ध्योर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते॥

मनु० २।७८

ओंकार और व्याहृतियों के सहित दोनों सन्ध्याओं में गायत्री मन्त्र का वेदज्ञ ब्राह्मण को भी जप करना चाहिए। इससे सम्पूर्ण वेद का पुण्य मिल जाता है। अर्थात् सम्पूर्ण वेदों का पाठ एक तरफ और एक मात्र गायत्री मंत्र का अर्थपूर्व जप एक तरफ।

फिर भगवान के अनन्त नाम और रूप हैं, जिस पर जिसकी श्रद्धा हो, उसी का जप करके सिद्धि प्राप्त करनी चाहिए। सब उसी में जाकर मिलते हैं। श्रद्धा और भाव की आवश्यकता है।

कीर्तन-भक्ति

भगवान् की नौ प्रकार की भक्तियों में कीर्तन एक बहुत ही मनोरंजक भक्ति है। भगवत्प्राप्ति के अनेक सुलभ और दुर्लभ साधन हैं, पर कीर्तन एक ऐसा साधन है कि जिसमें स्वाभाविक ही मन चारों ओर से खिंच कर भगवान् के गुणानुवाद में आकर रम जाता है। भगवन्नाम का जब हम सीधा जोर-जोर से उच्चारण करते हैं, तब वह आवाज हमारे चारों ओर गूंज जाती है; और उस भगवन्नाम गर्जन के सामने संसार की सब आवाजें दब जाती हैं, भीतर के सब मनोविकार भी दूर भाग जाते हैं। यह अवस्था साधारण जोर-जोर से नाम-जप में भी होती है, पर जब हम उसी नाम को एक विशेष राग, ताल और ध्वनि के साथ धीरे-धीरे या जोर-जोर से गाते हैं, तब उसी जप को कीर्तन का स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

परन्तु कीर्तन का स्वरूप केवल इतना ही नहीं है, बल्कि इससे भी और बहुत अधिक व्यापक है। कीर्तन में नाम-संकीर्तन तो आता ही है परन्तु भगवान् के अनन्त नाम, अनन्त गुण और तनन्त कथाएँ हैं। उन सब का संगीत गान वाद्य के साथ—कथा कीर्तन होता है। भगवद्भक्त श्रोतावक्ता सब एक होकर उस संकीर्तन में अन्मय होकर बस सर्वत्र एक ही रूप में रममाण हो जाते हैं—भगवान् कृष्ण ने इसी कीर्तन भक्ति का इशारा करते हुए अपनी गीता में कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

गीता १०-९

मेरे भक्त मुझ में ही अपना मन प्राण लगाये हुए मेरे गुणानुवाद गाते, समझाते रहते हैं; और उसीमें सन्तुष्ट, प्रसन्न और मग्न रहते हैं। अथवा—

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढ़व्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

गीता, ६-१४

भक्त लोग दृढ़व्रत होकर सदैव मेरा कीर्तन करते रहते हैं। सब प्राणियों में एक मात्र मुझको ही देखकर बड़े उत्साह और उमंग के साथ मेरी सेवा और पूजा में तत्पर रहते हैं। भक्ति से मुझको नमस्कार करते हुए सदैव मुझको अपने निकट पाते हैं।

जहाँ भक्त लोग एकान्त में अथवा सर्वसाधारण जनता के साथ भगवत्कीर्तन करते हैं वहाँ का वायुमंडल और पृथ्वी का एक-एक कण इतना दिव्य और आनन्ददायक हो जाता है कि मनुष्य को सारी इन्द्रियाँ और मन एक परब्रह्म में ही रममाण होती हैं; और कोई सुध-बुध नहीं रहती। क्यों न हो—भगवान् स्वयं कहते हैं :—

नाहं वसामि वैकुंठे योगिनां हृदये रवौ।
मद्भक्ता यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद ॥

नारद ! हम बैकुण्ठ में नहीं रहते और न योगियों के हृदय में और न सूर्य में—हम तो भाई जहाँ हमारे भक्त गाते हैं, वहीं रहते हैं। और भी—

गीत्वा तु मम नामानि नर्तयेन्मम सन्निधौ।
इदं ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन ॥

हे अर्जुन, जो भक्त मेरे अनन्त नामों का गान करते हुए, और सर्वत्र मेरे ही रूप को देखते हुए, मेरे सामने नृत्य करते हैं, मैं

सच कहता हूँ—मैं तो भाई उनका गुलाम हूँ। कीर्तन करते हुए उनकी क्या हालत हो जाती है :—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्त
रुदेत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च।
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
श्रीमद्भागवत ११-१४ २४

कीर्तन करते हुए मेरा भक्त वाणी से गद्गद् हो जाता है। उसका हृदय भर जाता है। वह भावुक कभी रोने लगता, कभी हँसने लगता है, कभी लज्जारहित होकर ऊँचे स्वर से गाने और नाचने लगता है। इस प्रकार मेरी भक्ति से मेरा भक्त सारे संसार को पवित्र करता है।

कीर्तन भक्ति में एक और भी विशेषता है। अपने साधारण गृहकार्य करते हुए भी हम भगवद्गुणों का गान कर सकते हैं। मन तो हमारा भगवद्गुण गान में लगा हुआ है; और शरीर हमारा गृहकार्य में लगा हुआ है। ब्रजगोपियों के विषय में श्री शुकदेव मुनि ने कहा है—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो,
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥
श्रीमद्भागवत १०-४४-१५

इन ब्रजाङ्गनाओं को धन्य है जो भगवान् में चित्त लगाये हुए गौएँ दुहतीं, धान कूटतीं, दही बिलोतीं, आंगन लीपतीं, रोते

बालकों को पलने पर झुलातीं, घर बुहारती हुईं प्रेम-मगन मन, आंखों में प्रेमाश्रु भरे, गद्गद् वाणी से भगवान् का गुणगान करती रहती हैं।

भगवद् कीर्तन में व्रजगोपिकाएँ हमारी गृहस्थ देवियों के लिए मानो आदर्श स्वरूप हैं। हरिनाम-संकीर्तन ऐसी पवित्र गंगा की धारा है जिसमें स्त्री पुरुष सभी अवगाहन करते हैं। इतना ही नहीं; बल्कि शूद्र, अन्त्यज और चाण्डाल भी भगवान् का नाम संकीर्तन कर ब्राह्मण से भी श्रेष्ठ पदवी पा सकते हैं। भक्तमाल के रचयिता नाभा जी और रैदास भक्त इत्यादि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। कहा भी है—

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

भगवन्! तुम्हारा नाम संकीर्तन जो करते रहते हैं, वे चाण्डाल भी हों, पर उन ब्राह्मणों से श्रेष्ठ हैं, जो तुम्हारे भक्त नहीं— फिर उन ब्राह्मणों का क्या कहना जो तुम्हारा नाम लेते रहते हैं। वे तो तुम्हारा नाम लेने मात्र से ही मानो सब प्रकार के जप, तप, यज्ञ, दान, स्नान, वेद पाठ इत्यादि कर चुके। भगवन्।

तव कथाऽमृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

श्रीमद्भागवत १० ३१-९

तुम्हारी कथा, जिसे ब्रह्मादि कवियों ने बार-बार गाया है, सांसारिक पापतापों से संतप्त प्राणियों के लिए जीवनदायिनी, अमृततुल्य है। दैहिक, दैविक और भौतिक तीना तापों को शीतल करनेवाली आपकी वह श्रवणसुखद कथा बहुत सुन्दर और सब जगह व्याप्त है। इस पृथ्वी पर जो सज्जन भक्तवृन्द उसको गाते हैं उनसे लोगों का सब कामनाएँ सिद्ध होती हैं।

भगवान् की ऐसी ही सुमधुर कथा के लिए आर्त होकर एक जिज्ञासु भक्त कहता है--

नयनं जलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा।
पुलकैर्निचितंवपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति॥

भगवन्! वह समय कब आयेगा जब तुम्हारा नाम संकीर्तन करते हुए मेरे नयनो से अश्रुधारा बहेगी, वाणी गद्गद कंठ होकर निकलेगी: और मेरा सारा शरीर रोमांच-पुलक हो जायगा।

परिवदतु जनो यथा तथा वा
ननु मुखरो न वयं विचारयामः।
हरिरसमदिरामदातिमत्ता
भुवि विलुठाम नटाम निर्विशामः॥

वाचाल लोग इधर उधर की चाहे जो कहा करें, हम उस पर ध्यान न देंगे, हम तो बस भगवत्प्रेम-मदिरा के मद में मतवाले होकर नाचेंगे, नाचते नाचते पृथ्वी पर लोटने लगेंगे और उसी में मगन हो जायेंगे।

दाम्पत्य धर्म

जाया (स्त्री) और पति दोनों मिलकर दम्पति कहलाते हैं। एक दूसरे के प्रति, दोनों के कुछ कर्त्तव्य शास्त्रों में कहे गये हैं उसी को दाम्पत्य धर्म कहते हैं, जिस पर चलने से संसार सुखी हो सकता है। अस्तु।

पहले हमको स्त्री जाति की महत्ता पर विचार करना चाहिए। कहते हैं कि पहले परब्रह्म में यही स्फूर्ति हुई कि 'हम एक हैं, उससे बहुत हों"। पहले भगवान् एक अकेले थे; उनको ऐसी इच्छा हुई कि अब हम एक से बहुत हों, तब उन्होंने माया का सिरजन किया। स्त्री क्या है—माया रूप है। माया यदि नहीं होती, तो परब्रह्म के अस्तित्व का कुछ भी भान हमको न होता। वह अकेला चाहे जहां बना रहता। अतएव माया ही वह शक्ति है जिसके द्वारा हमको परब्रह्म का ज्ञान होता है। और इसी की शक्ति से सारे ब्रह्माण्ड की रचना होती, सिरजन, पालन और संहार होता है। हमारे घरों में भी स्त्री का यही दर्जा है। स्त्री ही की शक्ति पाकर हम अपने सारे सांसारिक कर्तव्यों में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। इस मातृशक्ति का यदि हम आशीर्वाद न लें, तो, सोचना चाहिए हमारी क्या हालत हो।

स्त्री का इतना महत्व है; पर आज हम इस विषय में कितने लापरवाह हैं। इस शक्ति को हमने कहां का कहां ले जाकर गिरा दिया है। कन्याओं के लालन पालन, उनके शिक्षण रक्षण और उनके वैवाहिक सम्बन्ध का हमारी वर्तमान और भावी सन्तान पर क्या प्रभाव पड़ रहा है, इस पर क्या कभी भी हम विचार करते हैं? शास्त्र कहता है—

> कुमारीं शिक्षयेद् विद्यां धर्मनीतौ निवेशयेत्।
> द्वयोः कल्याणदा प्रोक्ता या विद्यामधिगच्छति ॥

कुमारियों को विद्याभ्यास कराकर उनको नीति और धर्म में निपुण करना चाहिए, क्योंकि जो कन्याएँ विदुषी ब्रह्मचारिणी होंगी, उन्हीं से दोनों कुलों का कल्याण होगा। परन्तु हम कन्याओं का छोटी उम्र में विवाह करके उनको गृहस्थी के भाड़ में झोंक देते हैं। यह मातृशक्ति का भयंकर अपमान है। छोटी उम्र में पति के घर जाने से प्रायः रजस्वला होने के पहले ही घरों में पति-पत्नी-सम्बन्ध शुरू हो जाता है। कन्या को जब तक रजोधर्म न हो, उसको "जाया" या पत्नी बनने का कहाँ अधिकार है। कन्या के माता-पिता इस विषय में कुछ भी विचार नहीं करते। हेमाद्रि ऋषि कहते हैं :—

अज्ञातपतिमर्यादामज्ञातपतिसेवानम्।
नोद्वाहयेत्पिताबालामज्ञाता धर्मशासनाम्॥

जिसे पतिमर्यादा, पतिसेवा और धर्मशासन का ज्ञान नहीं, ऐसी, बेचारी अबोध कन्याओं का विवाह माता पिता को कभी न करना चाहिए। मनु महाराज तो साफ ही कहते हैं :—

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वन्तु कालादेतस्मात् विन्देत सदृशं पतिम्॥

कन्या ऋतुमती, अर्थात् रजस्वला हो जाने पर भी तीन वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करती हुई कुमारी यानी अविवाहित बनी रहे। इसके बाद; रज परिपक्व हो जाने पर, अपने सदृश ब्रह्मचारी पति को प्राप्त करे। रज और वीर्य के पूर्ण परिपक्व होने के पहले ही स्त्री प्रसङ्ग होने से दाम्पत्य धर्म में क्या दुर्दशा होती है, इसके विषय में महर्षि सुश्रुत कहते हैं :—

ऊनषोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं कुक्षिस्थः स विलीयते॥

जातो वा न चिरंजीवेज्जीवेद्वा दुर्बलेन्द्रियः ।
तस्मादत्यन्तबालायां गर्भाधानं न कारयेत् ॥

पच्चीस वर्ष से कम उम्रवाला पुरुष यदि सोलह वर्ष से कम अवस्था वाली स्त्री में गर्भ धारण करता है, तो वह गर्भ पेट में ही निरापद नहीं रहता । गर्भपात इत्यादि उपद्रव खड़े होते हैं ; और यदि किसी प्रकार गर्भ पेट में सध भी जाता है ; और बच्चा भी किसी प्रकार उत्पन्न हो जाता है, तो वह अधिक दिन तक जीवित नहीं रहता ; और यदि जीवित रह जाता है, तो हमेशा रोगी, निर्बल, माता पिता और पृथ्वी के लिए भार रूप होकर जीता है । इसलिए बहुत बचपन में स्त्रीसङ्ग अथवा गर्भाधान न करना चाहिए ।

यह तो विवाह और स्त्रीसमागम की वयोमर्यादा हुई । अब यह देखना चाहिए कि सन्तानार्थी स्त्रीपुरुषों को महीने में किस प्रकार, कितनी बार, समागम करना चाहिए । मनुजी कहते हैं :—

ऋतुकालाभिगामी स्यात्स्वदारनिरतः सदा ।
पर्ववर्जं व्रजेच्चैनां तद्व्रतो रतिकाम्यया ॥
मनु० ३-४५

सदा अपनी ही स्त्री से सन्तुष्ट रह कर ऋतुकाल में ही स्त्री-समागम करना चाहिए । रति की कामना हो, वो पर्व दिनों को छोड़कर अन्य दिनों में भी स्त्री के पास जा सकते हैं । ऋतुकाल का प्रमाण क्या है :—

ऋतुः स्वाभाविकः स्त्रीणां रात्रयः षोडशस्मृताः ।
चतुर्भिरितरैः सार्धमहोभिः सद्विगर्हितैः ॥

रजोदर्शन के दिन से लेकर सोलह रात्रियों तक स्त्री का स्वाभाविक ऋतुकाल माना गया है। इसमें प्रथम चार दिन भी शामिल हैं, जिनको भले आदमी सदैव बचाते हैं। इसके सिवाय और भी विवेक है :—

तासामाद्याश्चतस्रस्तु निन्दितैकादशी च या।
त्रयोदशी च शेषास्तु प्रशस्ता दशरात्रयः॥

सोलह रात्रियो में से उपर्युक्त चार रात्रियो के अलावा ग्यारहवीं और तेरहवी रात्रि भी निन्दित कही गई है। शेष दस रात्रियां ठीक हैं।

लेकिन दश रात्रियों में भी यह आवश्यक नहीं कि सभी रात्रियों में गमन किया जाय। उसमें भी पुत्र चाहने वाले को सम, अर्थात् छठी, आठवीं, दसवीं, बारहवीं, चौदहवीं और सोलहवीं विहित है। उसमे भी चौदहवी और सोलहवीं या सिर्फ सोलहवीं सब से अच्छी है। कन्या के इच्छुको को विषम, यानी पाँचवीं, सातवीं, इत्यादि रात्रियों का ग्रहण करना चाहिए। इसमें भी उत्तरोत्तर रात्रियों को ही उत्तम माना गया है। फिर इसमें भी यदि पुरुष का वीर्य प्रबल हुआ तो विषम रात्रि में भी पुत्र और स्त्री का रज प्रबल हुआ, तो सम रात्रि में भी कन्या हो सकती है। दोनों का रज वीर्य तुल्य होने से नपुंसक अथवा लड़का लड़की जोड़िहां उत्पन्न होते हैं। रजवीर्य के कमजोर या दूषित होने पर गर्भ ही नहीं ठहरता, अथवा ठहरता है तो टिकता नहीं, इत्यादि अनेक बातो का महर्षि मनु ने अपनी स्मृति में विचार किया है।

सारांश यह है कि गृहस्थ के लिए—जो कि विशुद्ध सन्तान उत्पन्न करने के लिए ही दाम्पत्य धर्म को धारण करता है, सम्भोग के कुछ नियम निर्धारित कर दिये गये हैं। महीने भर

में वे कुछ ही दिन हैं, जिनमें स्त्री पुरुष को गमन करना चाहिए। इन नियमों का यदि पालन किया जाय, तो हमारी भावी सन्तान शूरवीर और विद्वान् सदाचारी उत्पन्न होगी। एक जगह मनु जी ने सम्भोग की इस कालमर्यादा को और भी अधिक संकुचित कर दिया है; और उस नियम का यदि पालन किया जाय तो "गृहस्थ" को "ब्रह्मचारी" का पद मिल जाता है। इस नियम में महीने भर में सिर्फ दो रात्रियों में ही स्त्री समागम का विधान किया गया है:—

निन्द्यास्वष्टासु चान्यासु स्त्रियो रात्रिषु वर्जयन्।
ब्रह्मचार्येव भवति यत्रतत्राश्रमे वसन्॥

छै रात्रियां जो वर्ज्य हैं, उनका जिक्र ऊपर हो चुका है। इनके अलावा आठ रात्रियां और भी छोड़ देनी चाहिएं—वे आठ रात्रियां कौन हैं? दोनों पक्षों की एकादशी, दोनों पक्षों की अष्टमी दोनों पक्षों की चतुर्दशी और अमावस तथा पूर्णिमा इस प्रकार कुल चौदह रात्रियां ऋतुकाल में भी सम्भोग के लिए छोड़ने का विधान है। सिर्फ दो रात्रियां रह जाती हैं। दो में से भी अगर एक हो सिर्फ रखे—यानी सिर्फ सोलहवीं रात्रि को ही—महीने भर में सिर्फ एक बार स्त्री-समागम करे; और परस्त्री को सदैव बचाये रहे—तो वह गृहस्थ जगत्वन्द्य ब्रह्मचारी हो सकता है। जो कुछ इच्छा करे, वही उसको सिद्धि प्राप्त हो सकती है। स्त्री भी वही सती साध्वी पतिव्रता कहला सकती है, जो महीने में सिर्फ एक बार पति-समागम करे; और परपुरुष का स्वप्न में भी ध्यान न करे। शूरवीर और अपने कुल को उजियाला करनेवाला पुत्र उसी साध्वी को प्राप्त हो सकता है। कहावत है कि जङ्गल का राजा सिंह जीवन भर में सिर्फ एक बार अपनी धर्मपत्नी सिंहिनी से सहवास करता है, और

गर्भधारण हो जाता है; और जब सिंह का बच्चा अपनी मां के पेट से पैदा होता है, तब सिंहिनी का पेट फट जाता है; और वह मर जाती है। इसके बाद सिंहराज उस विधुरावस्था में भी ब्रह्मचारी अक्षतवीर्य रहता है। इसीलिए सिंह सब पशुओं में श्रेष्ठ प्रबल और जङ्गल में निर्भय राज्य करता है। हमारी माताएँ क्या ऐसी ही सन्तान उत्पन्न करने का प्रयत्न न करेंगी।

उत्तम सन्तान उत्पन्न हो और गृहस्थी में शान्ति और सुख का साम्राज्य हो, इसके लिए आवश्यक यह है कि पतिपत्नी दोनों एक दूसरे से प्रसन्न रहें, क्योंकि—

यदि हि स्त्री न रोचेत पुमांसं न प्रमोदयेत्।
अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजनं न प्रवर्तते॥
स्त्रियां तु रोचमानायां सर्वं तद्रोचते कुलम्।
तस्यां त्वरोचमानायां सर्वमेव न रोचते॥

यदि स्त्री शोभना और प्रसन्नचित तथा प्रसन्नवदन न रहेगी तो वह अपने पति को प्रसन्न न कर सकेगी, और जब पति ही प्रसन्न न रहेगा तो सन्तान न होगी; और यदि होगी भी तो ठीक न होगी। परन्तु पति कब प्रसन्न रह सकता है; और घर के तमाम स्त्री, पुरुष और बच्चे कब प्रसन्न रह सकते हैं— जब स्त्रियां प्रसन्न रहें; क्योंकि उनको यदि प्रसन्न न रखा गया तो कोई भी प्रसन्न न रह सकेगा। जहां स्त्रियां असन्तुष्ट और अप्रसन्न होकर, दिन रात दुखी रह कर, घर को कोसती रहती हैं, वह घर उजाड़ हो जाता है, जैसे चुड़ैलों की बस्ती। इस लिए—

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च॥

इसलिए यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारा घर धन-धान्य और सन्तान-रत्नों से भरा पूरा रहे तो इन गृहदेवियों की सदा पूजा करते रहो। उनको सुन्दर-सुन्दर वस्त्र आभूषण और भोजन इत्यादि से उनका आदर सत्कार सदैव करते रहो और जब कोई तिथि पर्व उत्सव अथवा शादी व्याह इत्यादि घर में कोई संस्कार या कामकाज पड़े तब इनको विशेष रूप से प्रसन्न करते रहो।

प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्ति कश्चन ॥

—मनु० ९-२६

ये स्त्रियां भाग्यशालिनी पूजनीय, घर में उजाला करने वाली, घर की शोभा हैं; सन्तान उत्पन्न करने के अतिरिक्त कामवासना अथवा घर के कामकाज में ही उनको केवल दासी के रूप में न समझें; बल्कि ये घर की लक्ष्मी हैं। लक्ष्मी इनके अतिरिक्त और कहीं नहीं हैं।

पतिर्भार्यां संप्रविश्य गर्भो भूत्वेह जायते।
जायायास्तद्धि जायात्वं यदस्यां जायते पुनः ॥

—मनु० ९-८

स्त्रियां केवल इसीलिए पूज्य नहीं हैं कि वे सन्तान देती हैं, अथवा गृह की लक्ष्मी हैं; बल्कि इसलिए भी पूज्य हैं कि वे अपने पति के लिए भी मातृरूप हैं—

पति स्वयं वीर्य रूप से पेट में प्रविष्ट होकर और फिर गर्भ बनकर सन्तान रूप में प्रसव होता है; पति अपनी धर्मपत्नी के ही पेट से फिर यह दुबारा सन्तान रूप में जन्म लेता है, इसी लिए तो पत्नी को "जाया" कहते हैं। "जाया" और "पति" ये

दो शब्द मिलकर ही "दम्पति" शब्द बना है। दोनों एक प हैं। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सन्तान उत्पन्न करने के अतिरिक्त, स्त्री को कामसाधन का एक यंत्र मात्र न समझकर सदैव मातृरूप से उसका आदर-सत्कार करते रहना चाहिए। अस्तु; इतना होते हुए भी, स्त्रियों का स्वभाव बहुत चञ्चल होता है, इस लिए—

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम् ॥
विषयेषु च सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे ॥

पुरुषों को चाहिए कि अपनी स्त्रियों को दिनरात अस्वतंत्र रखे वे सब प्रकार से सन्तुष्ट सुखी और विलास से युक्त हों, तो भीअपने वश में उनको मजबूती से रखे। परन्तु स्त्रियाँ इतनी चञ्चल होती हैं कि अगर वे स्वयं अपने को वश में न रख सकीं तो शायद विधाता भी उनको वश में नहीं रख सकता—मनुष्य की तो क्या कथा। इस लिए मनुजी ने बतलाया है कि गृहस्थ सदैव उनको इस प्रकार के कार्यों में लगाये रखें—

अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैव नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य वेक्षणे ॥

जो स्त्रियाँ अधिक चञ्चल हों उनको गृहस्थी के काम में इतना फँसाये रहे कि उनको दम मारने की फुरसत न मिलने पावे। इससे उनका चंचल चित्त बाधक न होगा। उनके पास पैसा रुपया धरने उठाने का काम दे देवे, आमदनी और खर्च का हिसाब तथा व्यय करने का अधिकार भी उनके हाथ में दे देवे घर की सफाई, कपड़ों की सफाई और बालबच्चों तथा अन्य कुटुम्बियों को नहलाने-धुलाने, अन्य धार्मिक तथा परोपकारी कार्यों, रसोई बनाने तथा उसका प्रबन्ध करने, घर की सब सामग्री इत्यादि को सजाने तथा उसकी देखभाल करने इत्यादि

कार्यों में सदैव उनको फँसाये रहे, ये ऐसे काम हैं कि स्त्रियों का चंचल मन भी स्वाभाविक ही, प्रेमवश, इन कार्यों में लग जाता है और सिवाय अपने पति की सेवा के, उनका ध्यान अन्यत्र और कहीं नहीं जाने पाता।

पतिव्रता स्त्रियों के लिये एक पति को छोड़कर अन्य कोई साधन नहीं है; क्योंकि विवाह का अर्थ ही यही है—

मङ्गलार्थं स्वस्त्ययनं यज्ञश्चासां प्रजापतेः।
प्रयुज्यते विवाहेषु प्रदानं स्वाम्यकारणम् ॥

विवाह में वरकन्या के कल्याण के लिए जो स्वस्तिवाचन और प्राजापत्य यज्ञ होता है, उसका अर्थ यही है कि देव; ब्राह्मण और अग्नि को साक्षी कर के कन्या उस वर को दे दी जाती है। अतएव कन्या का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि यावज्जीवन वह अपने पति की ही होकर रहे; और पति का भी धर्म हो जाता है कि वह एक पत्निव्रता का आजीवन पालन करे।

दाम्पत्यधर्म का यह मुख्य अभिप्राय यहाँ पर बतलाया गया।

मुद्रक—संगम प्रेस, प्रयाग।